01_aditya_Layout 1 5/1/2014 3:32 PM Page 1



जनतंत्र और जनवाद के बीच

कुछ सैद्धांतिक सवाल[1]

आदित्य निगम

अगर बीसवीं सदी के आख़िरी साल समाजवाद के पतन के साल थे, तो इक्कीसवीं सदी के शुरुआती साल जनतंत्र होने का दावा करने वाले समाजों में विस्फोट और उथल-पुथल के रहे हैं। 2010 के अंत से अरब मुल्कों से जो आँधी चली वह आख़िरकार बर्तानिया, स्पेन आदि होते हुए अमेरिका पहुँची जहाँ वॉल स्ट्रीट दख़ल करने के लिए लाखों लोग सड़कों पर

---

[1] इस लेख में हम जनवाद शब्द का इस्तेमाल अंग्रेज़ी के पॉपुलिज़म पद के लिए कर रहे हैं क्योंकि हिंदी में जो शब्द चालू हैं, वे इस परिघटना को ठीक से पकड़ पाने में नाकाम हैं. डेमॉक्रैसी के लिए जनतंत्र शब्द को चुनने की भी एक वजह यह है कि दोनों का ताल्लुक़ जन से है जो हाल का गढ़ा हुआ शब्द है. वैसे तो हिंदी में लोक शब्द का एक पारम्परिक चलन है जिससे 'लोकतंत्र' और 'लोकशाही' जैसे शब्द बनते हैं. जनतंत्र की जगह इन शब्दों का भी इस्तेमाल किया जा सकता था, मगर उन्हें न चुनने के पीछे भी एक वजह है. लोक का पारम्परिक चलन होने के कारण वह अंग्रेज़ी के फ़ोक के ज़्यादा नज़दीक बैठता है और हमारे पारम्परिक इस्तेमाल में लोक-संस्कृति, लोक-भाषा आदि का एक ख़ास अर्थ शास्त्रीय फ़र्क़ करने के लिए किया जाता है. उस अर्थ में भी उसका अर्थ फ़ोक के बहुत नज़दीक है. मगर इसके अलावा भी एक वजह है जो समाज-विज्ञानी नज़रिये से अहम है : जन और जनता का मौजूदा अर्थ पीपल के लिए रूढ़ हो चला है, और वह हमें बार-बार याद दिलाता है कि इसकी जड़ें हमारी आधुनिक राजनीति में कितनी नयी हैं. जन और जनता का ताल्लुक़ उस नये किरदार से है जिसे आधुनिक राजनीति में विल (संकल्प/ इरादा), सॉवरेंटी (सम्प्रभुता), प्रतिनिधित्व आदि का आधार माना जाता है. हर संविधान और हर दस्तावेज़ इसी की दुहाई देकर, वी, द पीपल के नाम पर अपने वजूद को जायज़ ठहराता है.

निकल पड़े। तहरीर चौक सारी दुनिया के लिए आह्वान बन गया। पूरे 2011 में जहाँ मिस्र से लेकर तमाम अरब देशों में आंदोलन फूटते रहे, वहीं बर्तानिया और युरोप के जनतंत्र कहलाने वाले मुख़्तलिफ़ देशों में तहरीर चौक का नाम गूँजने लगा। अगर बर्तानिया में छात्रों ने फ़ीस बढ़ोतरी के ख़िलाफ़ विश्वविद्यालयों को दख़ल करना शुरू किया, तो यूनान और स्पेन में सरकारों द्वारा करोड़ों युरो लगा कर बैंकों के बचाव में उतरने के ख़िलाफ़ लोग सड़कों पर आने लगे।

बड़े-बड़े जनांदोलन तो पहले भी हुए हैं, मगर इस बार एक फ़र्क़ था। लोग सिर्फ़ अपनी माँगों के समर्थन में ही आवाज़ नहीं उठा रहे थे बल्कि कुल मिला कर जनतंत्र को लेकर भी उनके सवाल थे। दो बातें बहुत स्पष्ट रूप से सामने आ रही थीं। पहली तो यह कि जनतंत्र को बड़े कॉरपोरेशनों ने हड़प लिया है। स्पेन में तो 'रियल डेमोक्रेसी नाओ' का नारा बाज़ाब्ता उठा, जैसा कि उसमें शरीक़ एक बड़े संगठन के नाम से साफ़ होता है। दूसरी अहम बात यह थी कि हर जगह आंदोलनकारी राजनीतिक नेताओं और दलों को— आम तौर पर राजनीतिक वर्ग को— जनतंत्र की बदहाली का ज़िम्मेदार ठहरा रहे थे। इससे एक बात तो साफ़ हो जाती है : यह समझना हमारी ख़ामख़याली है कि समाजवाद तो नाकाम हो गया, मगर जनतंत्र बदस्तूर फल-फूल रहा है। इन आंदोलनों की गुहार कहती है कि जनतंत्र भी वैसे ही नाकारा साबित हुआ है। फ़र्क़ यह है कि इन तमाम आंदोलनों में जनतंत्र के आदर्श पर यक़ीन अब भी देखने को मिलता है, जबकि समाजवाद के ख़िलाफ़ पिछली सदी के विद्रोह में उसके आदर्श को ही सिरे से ख़ारिज कर दिया गया था। यह दीगर बात है कि आज ख़ुद समाजवाद के आदर्श को लेकर फिर एक बार एक नया तसव्वुर सामने आ रहा है जो लातीनी अमेरिका के इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के नारे में दीख पड़ता है। बहरहाल, इस लेख में हमारी दिलचस्पी जनतंत्र के बारे में है; समाजवाद फ़िलहाल हमारी चर्चा का विषय नहीं है।

तहरीर चौक के झोंके हमारे यहाँ भी पहुँचे और अंदर ही अंदर सुलग रहा गुस्सा आंदोलन की शक़्ल में फट पड़ा। 2011 के अप्रैल में अन्ना हजारे के नेतृत्व में जनलोकपाल बिल को लेकर भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन जब व्यापक रूप ग्रहण करने लगा तब दिल्ली के जंतर-मंतर से तहरीर चौक को याद किया गया। यहाँ भी जनतंत्र की ख़स्ता हालत के लिए राजनीतिक वर्ग पर ही निशाना साधा गया। एक अर्थ में राजनीतिक वर्ग के बरअक्स साधारण नागरिक के अधिकारों का दावा उभर कर सामने आया।

जनतंत्र पर हालिया बहसें

लिहाज़ा, पिछले दो-तीन सालों से हमारे यहाँ भी जनतंत्र को लेकर एक ताज़ा बहस चल रही है। इससे पहले भी एक बहस चला करती थी जो मूलतः मार्क्सवादी ख़ेमे से उठी जनतंत्र की आलोचना से ताल्लुक़ रखती थी और जिसे हाल के सालों के माओवादी उभार से एक नयी ज़िंदगी मिल गयी थी। अरुंधती रॉय समेत कई लेखक व बुद्धिजीवी भारतीय जनतंत्र की आलोचना में मुखर होकर सामने आये थे। जनतंत्र की इस मार्क्सवाद-प्रेरित आलोचना का मूल सरोकार उसके तथाकथित वर्ग-चरित्र से है। इन आलोचकों का मानना था (और है) कि यह जनतंत्र झूठा है क्योंकि उसकी अंतर्वस्तु पूँजीवादी है। लिहाज़ा ऐसे आलोचक इस जनतंत्र को सिद्धांततः ख़ारिज करते हैं। उनकी उम्मीद किसी आइंदा समाजवादी जनतंत्र पर टिकी है जिसके बारे में कोई नहीं जानता कि वह कैसा होगा। बीसवीं सदी में मार्क्सवादियों को अपनी आलोचना की रोशनी में नये क़िस्म का समाजवादी जनतंत्र गढ़ने के बेशुमार मौक़े मिले थे, पर ठोस रूप से कोई कोशिश की ही नहीं गयी। इसकी वजह मूलतः यह थी कि इन आलोचकों के पास कोई ठोस विकल्प नहीं था, क्योंकि जनतंत्र की वास्तविक प्रक्रियाओं के बारे में इन्होंने कभी कोई दिमाग़ी मशक़्क़त करने की ज़हमत गवारा ही नहीं की थी। लिहाज़ा यह आलोचना मात्र एक चटखदार नारा बन कर रह गयी थी।



तहरीर चौक सारी दुनिया के लिए आह्वान बन गया। ... बड़े-बड़े जनांदोलन तो पहले भी हुए हैं, मगर इस बार एक फ़र्क़ था। ... दो बातें बहुत स्पष्ट रूप से सामने आ रही थीं। पहली तो यह कि जनतंत्र को बड़े कॉरपोरेशनों ने हड़प लिया है। स्पेन में तो 'रियल डेमोक्रेसी नाओ' का नारा बाज़ाब्ता उठा, जैसा कि उसमें शरीक़ एक बड़े संगठन के नाम से साफ़ होता है। दूसरी अहम बात यह थी कि हर जगह आंदोलनकारी राजनीतिक नेताओं और दलों को— आम तौर पर राजनीतिक वर्ग को— जनतंत्र की बदहाली का ज़िम्मेदार ठहरा रहे थे।

इधर अन्ना हजारे आंदोलन के वजूद में आने के बाद से एक नयी बहस का आग़ाज़ हुआ है जिसके तहत कई पुराने सवाल नये सिरे से उठाए गये और अब भी उठाए जा रहे हैं। चार दशकों से ज़्यादा वक़्त तक लोकपाल बिल पारित न कर पाने का मुद्दा उठाते हुए अन्ना आंदोलन द्वारा पूरे राजनीतिक ख़ेमे को नाकारा और भ्रष्ट क़रार देना और अपने बनाए हुए विधेयक को पारित करने के लिए सड़क पर उतर पड़ना— यह अपने आप में कई सवाल खड़े करता है।

सबसे ज़रूरी सवाल जो उभर कर सामने आता है— वह जनतंत्र में नुमाइंदगी की जगह को लेकर है। क्या जनता का काम सिर्फ़ पाँच सालों में एक बार वोट डाल कर अपने नुमाइंदे चुन लेना भर है ? क्या उसे यह हक़ नहीं है कि वह जब भी ज़रूरी हो, अपनी आवाज़ सुनवाने के लिए सड़कों पर उतरे ? वैसे तो यह सवाल भी हमारे देश में पहली बार नहीं उठ रहा है। साठ और सत्तर के दशक में डॉक्टर राम मनोहर लोहिया का नारा 'ज़िंदा क़ौमें पाँच साल इंतज़ार नहीं किया करतीं' बहुत लोकप्रिय हुआ था। मगर इस बार फ़र्क़ यह था कि ऐसी बात किसी राजनीतिक दल के नेता की तरफ़ से नहीं, बल्कि पूरी तरह से औपचारिक राजनीति के दायरे के बाहर से आ धमकी एक भीड़ के बीच से उठ रही थी। स्थापित राजनीतिक दलों के लिए यह बात अपने आप में बहुत चिंताजनक थी। कितना सुकूनदेह होता अगर एक दल-विशेष के ख़िलाफ़ एक दूसरा दल खड़ा हो जाता, रस्मी तौर पर आंदोलन भी होते और फिर चुनाव होते। एक दल जाता और दूसरा आ जाता। इस दरमियान संसद में कुछ हंगामा होता, नूरा कुश्तियाँ होतीं। गरमा-गरम भाषण भी होते, बयानबाज़ियाँ भी और फिर

सब कुछ बदस्तूर पहले की तरह चलता रहता। यह पिछले समय में हमारे जनतंत्र का चलन हो चला है, जिसे मैंने एक लेख में 'सियासत का विघटन' (इम्प्लोज़न ऑफ़ द पॉलिटिकल) कहा था।[2]

मगर इस बार कुछ और ही हो गया। आम लोगों ने नुमाइंदों की ख़बर लेने की ठान ली। राजनीतिक हलकों में इसी से हड़कंप मच गया। कोई किसी से इस्तीफ़ा नहीं माँग रहा था, न कोई किसी से माफ़ी माँगने को कह रहा था। माँग थी तो बस एक चालीस साल से जो क़ानून तमाम पार्टियों की मिलीभगत के चलते पास नहीं हो पाया, उसे अब पारित करना होगा और भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ और उसकी रोकथाम के लिए संस्थागत इंतज़ाम करने होंगे। इस दौर में न सिर्फ़ राजनीतिक दलों के नेता बल्कि कई जाने माने बुद्धिजीवी भी मैदान में उतर आये और सब ने मिलकर जनतंत्र के जो पाठ पढ़ाए उनका लब्बेलुवाब यही था कि जनतंत्र सिर्फ़ चुने हुए प्रतिनिधियों का कारोबार है जिसमें किसी और का दाख़िल होना वर्जित है। सबने एक स्वर में अन्ना और अरविंद केजरीवाल आदि पर सवाल दाग़े : आप कौन हैं ?, किसने आपको चुना है ?, आप किसके नुमाइंदे हैं ? कहा गया कि अगर आम लोग सड़कों पर क़ानून बनाने लगे, तो अराजकता फैलेगी। दिलचस्प बात यह है कि इस बेनाम भीड़ से स्थापित राजनीतिक दलों की हिफ़ाज़त करने के लिए वामपंथी बुद्धिजीवी भी अच्छी ख़ासी संख्या में मैदान में उतर आये।

कुल मिला कर जिस तरह का पलटवार राजनीतिक हलक़ों से आंदोलन पर हुआ उससे नुमाइंदगी बनाम प्रत्यक्ष जनतंत्र का सवाल बड़े तीखेपन से निकल कर सामने आया। लिहाज़ा, इस सवाल पर जो बहस किसी ज़माने में युरोप में चला करती थी, उसके हवाले दिये गये और बताया गया कि आंदोलन जो सवाल उठा रहा है वह समाज को महज़ भीड़तंत्र और अराजकता की तरफ़ ले जा सकता है। आख़िरकार क़ानून बनाना संसद का काम है। नुमाइंदों का काम है। भीड़ कैसे क़ानून बना सकती है ? दूसरे शब्दों में पॉपुलिज़म अर्थात् जनवाद का मसला उठाया गया। इस तरह जनतंत्र बनाम जनवाद का एक विरोध खड़ा होता है जो इतिहास में पहली बार नहीं होता और कई संदर्भों में, दुनिया के अन्य देशों में भी यह विरोध ठीक इसी तरह खड़ा किया जा चुका है।

चूँकि युरोप के तजरुबों के हवाले दिये जाते रहे हैं, इसलिए उस इतिहास पर भी फिर एक बार नज़र डालना मुनासिब होगा। हमें ध्यान रखना होगा कि उन्नीसवीं सदी में नुमाइंदगी की व्यवस्था जम्हूरियत के विस्तार के लिए नहीं की गयी थी, बल्कि उस पर नकेल डालने के लिए की गयी थी। युरोप में जम्हूरियत या जनतंत्र के आविर्भाव ने कुलीन वर्गों में खलबली पैदा कर दी थी। शुरू से ही उदारतापंथी (लिबरल) बुद्धिजीवी यह मानते थे कि अनपढ़-गँवार लोगों के हाथ में सत्ता सौंपना ख़तरनाक है। लिहाज़ा उनका ख़याल था कि वोट का अधिकार भी और चुनाव लड़ने का हक़ भी केवल कुलीन, शिक्षित व सम्पत्तिवान तबक़ों के लोगों को ही होना चाहिए। आम लोगों को पहले जम्हूरियत के क़ाबिल बनना होगा। तभी जाकर वे वोट के अधिकार के भी हक़दार हो सकते हैं। इसी सोच के चलते कई युरोपीय देशों में बीसवीं सदी के दूसरे और तीसरे दशकों तक औरतों और मज़दूरों को मताधिकार प्राप्त नहीं हो पाया था और उसके लिए लोगों को कई जुझारू संघर्षों में उतरना पड़ा था।

---

[2] देखें, आदित्य निगम (2008), 'इम्प्लोज़न ऑफ़ द पॉलिटिकल', *जर्नल ऑफ़ कंटेम्परेरी थॉट,* अंक 27, ग्रीष्म, 2008. याद रहे कि हमारे जनतंत्र की यह दुर्दशा उस दौर में हुई जिसे योगेंद्र यादव दूसरा जनतांत्रिक उभार कहते हैं जब बड़े पैमाने पर पिछड़ी और दलित जातियों की पार्टियाँ राजनीति के केंद्र में आ गयीं थीं. यह एक ऐसी विडम्बना है जिस पर अभी तक कोई संजीदा बातचीत नहीं हो पायी है क्योंकि यही वह वक़्त भी है जब नव-उदारतावाद का जादू सर चढ़ कर बोलना शुरू करता है और सभी राजनीतिक दल एक सिरे से उसके पीछे क़तारबंद हो जाते हैं.

दरअसल, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं के शुरुआती दशकों में इस नुमाइंदगी की व्यवस्था के ख़िलाफ़ बाज़ाब्ता मास डेमॉक्रैसी का विद्रोह देखने को मिलता है। अक्सर यह विद्रोह फ़ासीवाद की ख़ुराक भी जुटाता है, जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे। रूसी क्रांति के बाद, जर्मनी व नीदरलैंड आदि कुछ देशों में समाजवादी सोच के तहत कौंसिल कम्युनिज़म नाम से नीचे से जम्हूरियत विकसित करने की कुछ कोशिशें हुईं, मगर वे ज़्यादा दिन नहीं चल पायीं। लेकिन लंबे संघर्षों के फलस्वरूप हासिल सार्विक बालिग मताधिकार जनतंत्र के तसव्वुर का हिस्सा बन गया।

अवधारणाओं का सफ़र : कैसे समझें?

बहरहाल, ये सवाल बहुत पेचीदा हैं और इस पर थोड़ा विस्तार से विचार करना ज़रूरी है। इनकी पेचीदगी के दो कारण हैं। पहला, उस इतिहास पर जमी बाद के वक़्त की परतें, जिनका असर जनतंत्र की शक़्ल-सूरत पर भी पड़ा। आज हम उसे जिस रूप में जानते हैं और जिसे हमारे ज़माने के आंदोलनों में सिरे से ख़ारिज किया जा रहा है— वह अपने आप में उस बाद के इतिहास का नतीजा है। इस पेचीदगी की दूसरी वजह पद्धतिगत है जो हमारे सामने अपने मुक़ाम से जनतंत्र के सिद्धांतीकरण की चुनौती पेश करती है।

मैं यहाँ जनतंत्र और जनवाद के संदर्भ में जो तर्क रखना चाहता हूँ, वह दरसअल अन्य कई अवधारणाओं के संदर्भ में भी रखा जा सकता है। हमारी समाज-वैज्ञानिक अवधारणाएँ, समाज-विज्ञान की ही तरह, एक ख़ास ऐतिहासिक परिस्थिति यानी उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के युरोप की ही देन हैं। उस इतिहास और उस चिंतन-परम्परा की छाप उन पर बदस्तूर पड़ी हुई है। इन प्रत्ययों और सिद्धांतों का एक पहलू वर्णनात्मक है जो सिद्धांत के साथ नत्थी होकर आता है और हमें बताता है कि जनतंत्र और जनवाद किस तरह वजूद में आये। उनका एक और पहलू है जिसे हम आदर्शात्मक कह सकते हैं। यानी, यह पद या प्रत्यय हमें सिद्धांत के साथ साथ वांछनीयता का एक पैमाना भी देते हैं। जिस तरह हम इन प्रत्ययों को इस्तेमाल करने के आदी हो चले हैं, उससे कुल मिला कर ऐसा लगता है कि वे कुछ ख़ास ऐसी चीज़ों या परिघटनाओं की तरफ़ इशारा करते हैं जो अपने नामकरण के समय ही पूर्णता हासिल करके अपना सबसे विकसित रूप अख़्तियार कर चुके थे। गोया वह पद और उसके द्वारा चिह्नित चीज़ / परिघटना दोनों ही अब इतिहास का हिस्सा हैं और उनका जो भी विकास सम्भव था— वह हो चुका है। अब अपने जनतंत्र के बारे में कुछ भी जानने के लिए हमारे लिए उस इतिहास की ओर लौटना भर है। हमारा जनतंत्र कितना खरा है और कितना खोटा, इसका फ़ैसला अब सिर्फ़ उस इतिहास विशेष के संदर्भ में ही हो सकता है। और, यह पहले से ही तय है कि उस पैमाने पर मापें तो हमारे जनतंत्र में हमेशा ही कोई न कोई खोट निकलेगी ही।

लिहाज़ा, अगर हम आज के समाज-वैज्ञानिक प्रत्ययों की रोशनी में देखें, जैसा हम अब तक करते आये हैं, तो हमें आईने में हमेशा अपनी एक विकृत तस्वीर ही दिखाई देगी : हमारी आधुनिकता अधूरी, हमारा सेकुलरज़िम विकृत, हमारा जनतंत्र अध-कचरा, हमारा विकास अवरुद्ध, यहाँ तक कि हमारा पूँजीवाद भी पिछड़ा दिखाई देगा। यह मान लेना कि उपरोक्त तमाम नाम ऐसी वस्तुओं की तरफ़ इशारा करते हैं जिन्होंने नामकरण के वक़्त ही अपना मुक़म्मल रूप हासिल कर लिया था, प्रकारांतर से यह मान लेना भी होगा कि इनका आदर्शात्मक सार, इनका वांछनीय और आदर्श रूप, भी उसी समय उभर कर सामने आ गया था। इससे यही नतीजा निकलता है कि हमारे जैसे समाजों का काम बस अब उन आदर्शों को अपनी ज़मीन पर कार्यान्वित करना मात्र है। उन आदर्शों पर खरा उतरना ही हमारी ज़िम्मेदारी है जिन्हें पश्चिम ने तमाम दुनिया के लिए एकबारगी परिभाषित कर दिया है। इस नज़रिये से हमारा सिद्धांतीकरण सिर्फ़ अपनी नाकामियों के सबब तलाशने तक ही सीमित रह सकता है। ऐसा ही हम आज तक करते आये हैं।

इसके विपरीत, मेरी तजवीज़ यह समझने की है कि जिन वस्तुओं या परिघटनाओं की तरफ़ ये प्रत्यय इशारा करते हैं, वे दरअसल हमेशा बनने-बिगड़ने की प्रक्रिया में होते हैं— अक्सर एक शै से किसी दूसरी शै में तब्दील हो जाने की प्रक्रिया में होते हैं। और अगर हम यह भी ध्यान में रखें कि इनमें से किसी भी शै का विकास किसी एक सीधे रास्ते होकर नहीं गुज़रता, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि ये तब्दीलियाँ भी अनेक और बहुविध होती हैं। न उसमें शामिल तमाम तत्त्व एक स्रोत से आते हैं और न ही हर समाज में उसका विकास एक ही ढंग से होता है। लिहाज़ा हमें हमेशा उनके दराज़ और दीगर इतिहासों को नज़र में रखना चाहिए। तभी हम यह भी समझ पाएँगे कि कैसे एक अवधारणा एक मुक़ाम से दूसरे तक आते-आते बदल जाती है। या यूँ कहें कि बेशक़ नाम वही रह जाए, उसके अर्थ बदल जाते हैं। मिसाल के तौर पर सेकुलरिज़्म को ही लें जिसका तरजुमा हम धर्मनिरपेक्षता के रूप में करते हैं। जैसा कि पिछले ढाई तीन दशकों से हमारे देश में चली आ रही बहस से साफ़ होता है, धर्मनिरपेक्षता महज़ सेकुलरिज़्म का हिंदी अनुवाद नहीं है। दोनों में बुनियादी फ़र्क़ है। जहाँ सेकुलरिज़्म राजनीति/राज्य और मज़हब के बीच पूर्ण विच्छेद की माँग करता हैं वहीं धर्मनिरपेक्षता राज्य को धार्मिक समुदायों में समान रूप से हस्तक्षेप करने की इजाज़त देती है;[3] जहाँ सेकुलरिज़्म एक अमूर्त बेदाग़ नागरिक की कल्पना करता है (जिस पर किसी धर्म, जाति आदि के दाग़ न हों) वहीं धर्मनिरपेक्षता बहुलता को क़ुबूल करते हुए अनेकता में एकता देखती है।

इस लिहाज़ से अगर देखें तो पूछना होगा कि क्या जनतंत्र वाकई डेमॉक्रैसी शब्द का तरजुमा भर है या उसके अपने इतिहास से उसके किरदार के बारे में भी हम कुछ नतीजे निकाल सकते हैं? ऐसा करते वक़्त हमें याद रखना होगा कि अवधारणाओं या प्रत्ययों का अपनी वस्तुओं से (जिन्हें वे चिह्नित करते हैं) एक जटिल रिश्ता होता है और अक्सर वे उसे सिर्फ़ चिह्नित ही नहीं करते बल्कि ऐसा करते हुए उसे वजूद में लाने का काम भी कर डालते हैं। जे.एल. ऑस्टिन से उधार लेकर अपने अनोखे अंदाज़ में उसका विस्तार करते हुए जूडिथ बटलर जिसे अदाकारी (परफ़ॉर्मेटिविटी) कहती हैं— उसी अंदाज़ में इसे भी समझना चाहिए। याद रहे कि बटलर अपने बेहद प्रभावशाली सिद्धांतीकरण में बताती हैं कि किस तरह जेण्डर ही नहीं बल्कि क़ुदरती समझा जाने वाला सेक्स/लिंग भी भाषा, बोलचाल और देह-भाषा आदि के ज़रिये (जिसे वे अदाकारी कहती हैं) ख़ास ढंग से वजूद में लाया जाता है। वे दिखाती हैं कि बिलकुल क़ुदरती जान पड़ने वाले औरत और मर्द ही लिंग का आदि और अंत नहीं होते; वास्तव में लोग इन दोनों के दरमियान कई और मुक़ाम भी रखते हैं और यह हमारा सांस्कृतिक तामझाम ही है जो हमें इन दो ध्रुवों में से एक चुन लेने को बाध्य करता है। लिहाज़ा हम ख़ास ढंग से अपने औरतपन और मर्दानगी को जीते हैं— उसका किरदार अदा करते हैं। इस हद तक कि हमारा तथाकथित क़ुदरती जिस्म भी उस अदायगी के हिसाब से ढल जाता है या ढाल दिया जाता है।

कुछ इसी अर्थ में पद व प्रत्यय अपनी वस्तुओं का नामकरण करते हुए उन्हें परिभाषित भी कर देते हैं और यही परिभाषा फिर हमारे अमल का आधार बन जाती है। एक अन्य लेख में मैंने सरमायेदारी के संदर्भ में इस पर विस्तृत चर्चा की है। सरमायेदारी के संदर्भ में हम देख सकते हैं कि कार्ल मार्क्स ने इस व्यवस्था को सिर्फ़ एक नाम ही नहीं दिया बल्कि उसे इस तरह परिभाषित भी किया कि सरकारों से लेकर उसकी मुख़ालफ़त करने वाले वामपंथियों तक सभी कमोबेश उसी के आधार पर अपने अमल को निर्देशित करते रहे। वही पूँजीवाद की असलियत बन कर हमारे सामने आया। आज तक हम पूँजी के तर्क के बाहर सोच पाने में ख़ुद को नाकाम पाते हैं उसके संचयन और लगातार बढ़ते

[3] इसे राजीव भार्गव ने धर्मनिरपेक्षता के संदर्भ में उसूली फ़ासले का नाम दिया है. देखें, राजीव भार्गव (2005), 'सेकुलरवाद का उद्देश्य और उसूली फ़ासले का सिद्धांत', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद*, सी.एस.डी.एस.-वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली : 208-282.



यह एक नया आह्वान था जिसमें एक अलग क़िस्म का विचार-तंत्र वजूद में आ रहा था। यह एक जवाबदेह और भ्रष्टाचार-मुक्त शासन की माँग के इर्द-गिर्द उभरता प्रत्यक्ष जनतंत्र का दावा करता विचार-तंत्र था। मगर इसकी शक़्ल-सूरत साफ़ नहीं थी। मगर यही इसकी सबसे बड़ी ताक़त थी। एक बार फिर लक्लाऊ की शब्दावली में कहें तो यह एक रिक्त प्रतीक (एम्टी सिग्निफ़ायर) था जिसमें लोग अपने हिसाब से अर्थ भर लेते हैं। भ्रष्टाचार इस क़लाम का मूल पद है जिसका सीधा रिश्ता सूचना-अधिकार के आंदोलन से है मगर जिसके सम्भावित अर्थ हैं।

विकास के विचार के सामने मार्क्सवादी भी हार मान चुके लगते हैं। इसलिए भी कि उसी परिभाषा के चलते हम उसे इतिहास की लाज़मी मंजिल मानने लगे हैं।[4] इसी तरह जनतंत्र के सवाल को भी इन दोनों पहलुओं से देखना होगा : एक तरफ़ हमारे संदर्भ में क़दम रखते हुए उसमें कौन से बदलाव आये, और दूसरी तरफ़ उसके नामकरण से जुड़ी परिभाषा के चलते उसे उस ख़ास साँचे में ढालने की कोशिशों का नतीजा क्या हुआ ?

जनतंत्र / जम्हूरियत और जनवाद

दूसरे पहलू को समझना अपेक्षाकृत ज़्यादा आसान है, क्योंकि यहाँ मूलत: पश्चिम से उधार लिए नक़्शों के अनुरूप भारतीय जनतंत्र को ढालने की कोशिशें ही ज़्यादा देखने को मिलेंगी। दरअसल हमें जनतंत्र के भारतीय इतिहास और उसकी ख़ासियतों पर ग़ौर करना चाहिए। इस ख़ासियत को समझने का एक तरीक़ा यह हो सकता है कि हम अपने यहाँ जनतंत्र या जम्हूरियत के साथ इस्तेमाल होने वाले पड़ोसी पद भी चर्चा में लाएँ। कोई भी पद अपने आप में अकेला नहीं आता उसके साथ हमेशा कई

---

[4] इस सवाल की तफ़सील में यहाँ जाना सम्भव नहीं है. इच्छुक पाठक मेरा लेख, आदित्य निगम (2014), 'मोलेकुलर इकॉनॉमीज़ : इज़ देयर ऐन आउटसाइड टू कैपिटल', निवेदिता मेनन, आदित्य निगम और संजय पलशीकर (2014) (सम्पा.), *क्रिटिकल स्टडीज़ इन पॉलिटिक्स : एक्सप्लोरिंग साइट्स, सेल्व्ज़, पॉवर,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली. देख सकते हैं।

अन्य पद, अन्य अवधारणाएँ जुड़ी रहती हैं। पश्चिम के जनतंत्र के इतिहास से भी हमें ऐसे कुछ पड़ोसी पद मिलते हैं।

युरोप के इतिहास की पृष्ठभूमि में बने राजनीतिक अमल और समाज-विज्ञान के सिद्धांतों में डेमॉक्रैसी के साथ साथ कई और अवधारणाएँ सामने आती हैं जिनके इर्द-गिर्द उसका कारोबार खड़ा होता है। या यूँ कहें कि जिनके सहारे आधुनिक राजनीति का कारोबार खड़ा होता है। इनमें दो प्रधान धाराएँ हैं एक उदारतावादी (लिबरल) और दूसरी जम्हूरी (डेमोक्रटिक)। ये दोनों अलग परम्पराएँ हैं। उदारतावादी परम्परा से अगर हमें स्वातंत्र्य (लिबर्टी), सम्पत्ति, नागरिकता, हक़ (राइट्स), नागर समाज (सिविल सोसाइटी), क़ानून का शासन (रूल ऑफ़ लॉ) और नुमाइंदगी (रेप्रेज़ेंटेशन) जैसे पद मिलते हैं, तो जम्हूरी परम्परा से बराबरी (ईक्वलिटी), पीपल, पॉपुलर सॉवेरेंटी, पीपल्स विल, डायरेक्ट डेमॉक्रैसी आदि। इसी दौर में पहली बार हमारा साबिक़ा उन पदों से होता है जिन्हें हम हिंदी में जन, लोक आदि रूपों में पहचानने लगते हैं।

वैसे जम्हूरी परम्परा का इतिहास प्राचीन यूनान तक जाता है, मगर यहाँ हमारे लिए उस इतिहास में जाना सम्भव नहीं है। इतना ज़रूर दर्ज करते चलना चाहिए कि प्राचीन यूनान की जम्हूरियत में नागरिकता का ख़ासा महत्त्व था। मगर वह नागरिकता आधुनिक उदारतावादी नागरिकता से इस मायने में बिलकुल अलग थी कि उदारतावादी नागरिकता सतत सक्रियता की माँग नहीं करती, क्योंकि वह नुमाइंदगी के सिद्धांत को अपना आधार बनाती है। नुमाइंदगी अपने उदारतापंथी स्वरूप में श्रम का बँटवारा करके यह सुनिश्चित करती है कि राजनीति हर नागरिक की ज़िम्मेदारी न बन जाए। नागरिकता का यूनानी ख़याल एक सतत सक्रिय नागरिक जमात या सक्रिय नागरिकता के तसव्वुर पर टिका है। याद रखना चाहिए कि न तो अरस्तू के लेखन में और न ही आधुनिक युग के शुरुआती दौर में डेमॉक्रैसी के अर्थ सकारात्मक थे। आम तौर पर जम्हूरियत को भीड़ का राज माना जाता था जो अर्जित विशेषाधिकारों को ख़ारिज करना चाहता है। आधुनिक युग में सक्रिय नागरिकता का ख़याल एक अन्य परम्परा रिपब्लिकनिज़म या गणराज्यवाद में देखने को मिलता है मगर वह भी ख़ुद को जम्हूरियत के विचार से अलग ही रखता है।[5] फिर भी, जैसा कि अक्सर होता है, विचार अपना रास्ता ख़ुद बना लेते हैं अपने प्रणेताओं के इरादों से आज़ाद। लिहाज़ा, बकौल क्वेंटिन स्किनर, ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी के इतालवी शहरी गणराज्य, जो आधुनिक गणराज्यवाद के पूर्वज कहे जा सकते हैं, वैचारिक तौर पर जम्हूरी परम्परा के पोषक भी क़रार दिये जा सकते हैं। ऐसा इसलिए कि प्राचीन काल के बाद यह पहले मौक़ा था जब ख़ुद-मुख़्तारी और पॉपुलर सॉवेरेंटी के विचारों के पक्ष मे तर्क खड़े किये गये।[6] बाद के वक़्त में मैकियावेली (सोलहवीं सदी) और रूसो (सत्रहवीं सदी) के लेखन और विचारों में यह गणराज्यवादी परम्परा एक पुख़्ता आधार पाती है। रूसो के मुताबिक़ प्राकृतिक

प्राचीन यूनान की जम्हूरियत में नागरिकता का ख़ासा महत्त्व था। मगर वह नागरिकता आधुनिक उदारतावादी नागरिकता से इस मायने में बिलकुल अलग थी कि उदारतावादी नागरिकता सतत सक्रियता की माँग नहीं करती, क्योंकि वह नुमाइंदगी के सिद्धांत को अपना आधार बनाती है। नुमाइंदगी अपने उदारतापंथी स्वरूप में श्रम का बँटवारा करके यह सुनिश्चित करती है कि राजनीति हर नागरिक की ज़िम्मेदारी न बन जाए।

[5] देखें, डेविड हेल्ड (1996), *मॉडल्स ऑफ़ डेमॉक्रैसी,* पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज : 40–43.

[6] वही : 42.

दशा से निकल कर इनसान सामाजिक क़रार के ज़रिये जिस सार्वजानिक सभा का निर्माण करता है वही रिपब्लिक या गणराज्य है जो यूनानी ज़माने में शहर (सिटी या पोलिस) कहलाता था। जम्हूरियत के बारे में मगर एक नकारात्मक रुख लगातार बना ही रहता है।

यही नकारात्मक रुख उन्नीसवीं सदी में एक अलग ही शक़्ल अख़्तियार कर लेता है जब युरोप में क्रांतिकारी उभारों के चलते मास डेमॉक्रेसी का उदय होता है। इस से पहले जो व्यवस्था चालू थी वह प्रतिनिधित्व-मूलक व्यवस्था थी जिसमें सब को न तो वोट डालने का हक़ था, न चुने जाने का। प्रातिनिधिक जनतंत्र बुनियादी तौर पर अभिजन-कुलीन वर्गों का कारोबार था, जिसमें शिक्षित और सम्पत्तिशाली तबक़े ही वोट डाल सकते थे और चुने जा सकते थे। इसी के ख़िलाफ़ विद्रोह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में और बीसवीं के शुरुआती सालों में मास जम्हूरियतों की शक़्ल में सामने आता है। हर जगह सार्विक बालिग मताधिकार और औरतों के लिए वोट के अधिकार पर आंदोलन देखने को मिलते हैं। एक तरफ़ समाजवादी और साम्यवादी आंदोलनों का उदय इसकी एक झलक देता है जिस पर हम थोड़ी देर में लौटेंगे। मगर उन्नीसवीं सदी के अंतिम सालों में भीड़ के मनोविज्ञान पर लिखते हुए इप्पोलीत टेन (1875, *ओरिजिंस ऑफ़ कंटेम्पोरेरी फ़्रांस*) और गुस्ताव लेबो (1895) जैसे बुद्धिजीवियों की रचनाओं में गये सौ सालों का इतिहास, ख़ास कर फ्रांसीसी क्रांति का इतिहास हावी था। मगर एक और नज़ारा था जो उस ज़माने के पेरिस और मिलान जैसे शहरों में देखने को मिलता था और वह था खचाखच भरी शहरी बस्तियों का नज़ारा। इसकी तात्कालिक पृष्ठभूमि युरोप के उद्योगीकरण का इतिहास है जिसके साथ बड़े पैमाने पर देहाती आबादियों को ज़मीन से बेदख़ल कर के शहरों में झोंक दिया गया था। अचानक पैदा हुई यह ग़रीब और बेरोज़गार आबादी जहाँ एक तरफ़ समाजवाद और साम्यवाद की ओर मुड़ती है वहीं दूसरी तरफ़ उसमें से बहुत लोग अपराध की ज़िंदगी की ओर भी धकेल दिये जाते हैं। लिहाज़ा, यही वह समय है जब बड़े पैमाने पर बढ़ते हुए अपराधों का रिश्ता सीधे-सीधे भीड़ से जोड़ा जाता है। इप्पोलीत टेन के ही शब्दों में :

> हम देख चुके हैं तस्करों, चोरों, आवाराओं, भिखमंगों और जेल से छूटे अपराधियों की तादाद किस क़दर बढ़ गयी है, और कैसे अकाल का साल इनकी तादाद और बढ़ा देता है। यह सभी भीड़ (यहाँ वे मॉब यानी रवाँ भीड़ शब्द का इस्तेमाल करते हैं) के रंगरूट हैं। ... (लक्लाऊ, 2007 में उद्धृत : 71)

भीड़, भिखारी, बेरोज़गार, चोर-उचक्के, ग़रीब सब यहाँ एक ही सिलसिले की कड़ी बन जाते हैं। यहीं से शुरू होता है मास सोसाइटी का ख़याल जो एक अर्थ में नये जन-समूहों के उदय में एक तरफ़ सामाजिक मूल्यों और संस्कृति का पतन देखता है तो दूसरी तरफ़ बहुमत की तानाशाही या भीड़तंत्र का ख़तरा।[7] मास सोसाइटी को इस ज़माने के कुलीन सिद्धांतकारों ने उभरते हुए बराबरी के विचार के नतीजे के तौर पर समझना बेहतर समझा (कोर्न्हौज़र, 1959 : 76)। सैद्धांतिक रूप से यह मान लिया जाता है कि जहाँ तर्कबुद्धि और विवेक का ताल्लुक़ व्यक्ति से है वहीं भीड़ का कारोबार तर्क के विनाश से शुरू होता है। भीड़ का अपना तर्क होता है जिसे भेड़चाल कहा जा सकता है।

उदारतावादी बुद्धिजीवी बुनियादी तौर पर अवाम के बारे में इस उच्चवर्गीय आलोचना से इत्तफ़ाक़ रखते हैं और इसीलिए जम्हूरियत के आदर्श को सीधे-सीधे क़ुबूल नहीं कर सकते। दोनों के जबरन ब्याह से जो शै निकल कर हमारे सामने आती है वह है लिबरल-डेमॉक्रैसी। लिबरल डेमॉक्रैसी अर्थात् उदारतावादी जनतंत्र का वजूद में आना एक सौदे का नतीजा कहा जा सकता है जिसके तहत सम्पत्ति

---

[7] सोनिया गुप्ता ने ओर्तिगा इ गैस्सेट की किताब *रिवोल्ट ऑफ़ द मासेज़* में मासेज़ के लिए जन-समूहों का इस्तेमाल किया है। किसी बेहतर शब्द के अभाव में हम यहाँ इसे उसी अर्थ में इस्तेमाल कर रहे हैं। देखें, सोनिया गुप्ता (1998), *जनसमूहों का विद्रोह,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

की मिल्कियत का सवाल चर्चा से बाहर कर सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकार की हैसियत से नवाज़ा जाता है। लिहाज़ा, बराबरी का सवाल अब अवसरों की बराबरी में तब्दील हो जाता है और व्यक्तिगत आज़ादी को सर्वोपरि मूल्य का दर्जा दे दिया जाता है। अवसरों की बराबरी हासिल करने के लिए सम्पत्ति के पुनर्वितरण की सैद्धांतिक दावेदारी सम्भव नहीं रह जाती। बराबरी और आज़ादी इस तरह उदारतावादी दर्शन में एक दूसरे के विरोधी बन जाते हैं। इस तरह जम्हूरियत की नाक में नकेल डाल दी जाती है। आहिस्ता-आहिस्ता उदारतावाद जनतंत्र/जम्हूरियत को अपनी गिरफ़्त में जकड़ लेता है और नुमाइंदगी की व्यवस्था जनतंत्र का पर्याय मान ली जाती है। आज यह बात हमारी सामूहिक याद्दाश्त से भी ग़ायब हो चुकी है कि जनतंत्र और नुमाइंदगी में कोई सीधा, स्वाभाविक और ज़रूरी रिश्ता नहीं है।

जम्हूरियत की परम्परा दरअसल ज़िंदा रहती है तो समाजवादी और अराजकतावादी राजनीति में। ख़ुद मार्क्स का मार्क्सवाद इसी रवायत का हिस्सा है। मार्क्स ख़ुद कभी भी सम्पत्ति की दासता क़ुबूल नहीं करते और बराबरी का सवाल उनके लिए कभी भी सिर्फ़ अवसरों का अमूर्त सवाल नहीं रहता क्योंकि उनके नज़दीक अवसरों का सीधा ताल्लुक़ समाज में व्याप्त ग़ैर-बराबरी से है जिसके मूल में सम्पत्ति का सवाल है। जनतंत्र मार्क्स के लिए कोई औपचारिक पद्धतिगत व्यवस्था नहीं है जिसे क़ानून के शासन में समेट कर रख दिया जा सके।

समाजवादी परम्परा और मार्क्सवाद के आविर्भाव के साथ जन-समूहों के बारे में यह नकारात्मक रुख़ काफ़ी हद तक बदला और माना जाने लगा कि आम लोग ही इतिहास के निर्माता होते हैं। सर्वहारा वर्ग को इतिहास के कारिंदे के रूप में देखा गया। लिहाज़ा आम लोगों का सैद्धांतिक पुनर्मूल्यांकन होना भी लाज़मी था। मार्के की बात यह है कि यह हुआ तो सही मगर उसमें दो तरह के पेंच रह ही गये। मार्क्स की ख़ुद की रचनाओं में व्यवस्था के बाहर जीने वाले ग़रीब जिन्हें वे लुम्पेन सर्वहारा कहा करते थे (इनमें चोर उचक्के, भिखारी, बेरोज़गार, वेश्याएँ आदि शामिल थे) हमेशा शक की निगाह से ही देखे जाते रहे। मार्क्स उन्हें हमेशा प्रति-क्रांतिकारी ताक़त मानते थे। मार्क्स के बाद लेनिनीय परम्परा में तो सर्वहारा को भी एक हमेशा-नाबालिग़ ताक़त के रूप में ही देखा गया जिसका उद्धार किसी मध्यवर्गीय हरावल दस्ते के नेतृत्व में ही सम्भव है। बहरहाल, इस सब के बावजूद, मार्क्सवाद ने काफ़ी हद तक अवाम और कुलीन वर्गों के बीच के रिश्ते को अलहदा ढंग से देखने का रास्ता खोला।

लेकिन अगर हम युरोप और समाज-विज्ञान के इस छोटे से वाक़ये को छोड़ दें तो कुल मिलाकर अवाम के प्रति हमें हिक़ारत का भाव ही देखने को मिलता है। लिहाज़ा, जनतंत्र से जुड़े और जितने भी पड़ोसी पद हम देखते हैं, सब में ऐसा ही भाव दीखता है। अंग्रेज़ी में, और आम तौर पर समाज -विज्ञान में, मास, मासेज़, मॉब, क्राउड सभी में एक नकारात्मकता मौजूद है। इसी से जुड़ा एक और शब्द है पॉपुलर— जिसका अर्थ आहिस्ता-आहिस्ता बदलता गया और कुछ हद तक सकारात्मक अर्थ ग्रहण करता गया, ख़ास कर मार्क्सवादी इतिहासकारों के हस्तक्षेप के चलते। ग्योर्ग रूडे, ई.पी. थॉमसन एरिक हॉब्सबॉम आदि इतिहासकारों ने न सिर्फ़ पॉपुलर शब्द को बल्कि क्राउड को भी सकारात्मक अर्थों में इस्तेमाल किया। इसके बावजूद सैद्धांतिक स्तर पर जो अर्थ रूढ़ हुए, वे वही थे जिनमें जनसमूहों का ख़ौफ़ (फ़ीयर ऑफ़ द मासेज़) मुखर होकर बोलता था।

इसी इतिहास से गहरे ढंग से जुड़ा है पॉपुलिज़म जिसके लिए हमारे पास ज़्यादातर भारतीय भाषाओं में कोई शब्द नहीं है। आधुनिक राजनीति में जनतंत्र के साथ ओतप्रोत ढंग से जुड़ी इस परिघटना के लिए शब्द न होना अपने आप में एक दिलचस्प सवाल है, जिस पर हम नीचे बातफ़सील चर्चा करेंगे।



बराबरी का सवाल अब अवसरों की बराबरी में तब्दील हो जाता है और व्यक्तिगत आज़ादी को सर्वोपरि मूल्य का दर्जा दे दिया जाता है। अवसरों की बराबरी हासिल करने के लिए सम्पत्ति के पुनर्वितरण की सैद्धांतिक दावेदारी सम्भव नहीं रह जाती। बराबरी और आज़ादी इस तरह उदारतावादी दर्शन में एक दूसरे के विरोधी बन जाते हैं। इस तरह जम्हूरियत की नाक में नकेल डाल दी जाती है। आहिस्ता-आहिस्ता उदारतावाद जनतंत्र/जम्हूरियत को अपनी गिरफ़्त में जकड़ लेता है और नुमाइंदगी की व्यवस्था जनतंत्र का पर्याय मान ली जाती है।

एक दीगर इतिहास

हमारे अपने इतिहास में देखें तो पाएँगे कि मास या मासेज़, मॉब, क्राउड आदि जैसे शब्द या तो सिरे से नदारद हैं या फिर उनके अर्थ कम से कम वैसे नकारात्मक नहीं हैं जैसे वह समाज-विज्ञान और सोशल थियरी में ग्रहण कर लेते हैं। यहाँ तक कि पीपल के पर्याय के रूप में जन या जनता बहुत नया शब्द है जो लोक की तरह या फिर बांग्ला के जनगण और उर्दू के अवाम (आम का बहुवचन) की तरह ही मूलतः सकारात्मक अर्थ में इस्तेमाल होते हैं। यह तमाम पद उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के शुरुआती सालों में या तो गढ़े जाते हैं या फिर एक अन्य इतिहास से खोद कर लाए जाते हैं और नये ज़माने की, आधुनिक राजनीति की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए नये सिरे से इस्तेमाल होते हैं। लोक शब्द इसका अच्छा उदहारण है जिसका एक बहुत लम्बा इतिहास है मगर जिसका लोकतंत्र और लोकप्रिय में इस्तेमाल एक बिलकुल नयी अवस्था की तरफ़ इशारा करता है। इसी तरह न तो उर्दू का शब्द हुजूम और न हिंदी का भीड़ ही कभी नकारात्मक अर्थों में इस्तेमाल किये जाते हैं। कुछ बहुत हाल के इस्तेमाल में भीड़तंत्र जिसे शब्द ज़रूर चलन में आ गये हैं मगर कुल मिला कर ये भी बहुत अलग ही अर्थ रखते हैं। मिसाल के तौर पर गाँधी अपने अंग्रेज़ी के एक लेख में बेक़ाबू या अनियंत्रित आचरण (अनरूली बिहेविअर) के लिए मोबोक्रेसी शब्द का इस्तेमाल करते हैं। संदर्भ दिलचस्प है। असहयोग आंदोलन के दौरान उन्हें देखने उमड़ पड़ी भीड़ का बेक़ाबू हो जाना गाँधी को बहुत नाग़वार गुज़रा। उसी से परेशान हो कर उन्होंने यह बयान दे डाला। कभी-कभी

वे कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे आंदोलनों को भी 'मॉब' कह दिया करते थे, मगर उस भीड़ के साथ उनका रिश्ता अदावत का न हो कर एक 'शिक्षक' का हुआ करता था।[8] ज़ाहिर है कि क्राउड थियरी या मास सोसाइटी के सिद्धांतकारों के अर्थों से यह बिलकुल अलग है।

अगर हम 1857 के महाविद्रोह पर नज़र डालें, जो आधुनिक काल में हिंदुस्तान का पहला बड़ा जनांदोलन होने का दावा कर सकता है, तो उसमें कहीं भी हमें इस तरह के पद इस्तेमाल में आते नहीं दीखते। इस विद्रोह की मुख़्तलिफ़ सामूहिक कार्रवाइयों के संदर्भ में हम सुनते हैं सिपाहियों के बारे में, या राजाओं के बारे में, या फिर उन राजाओं की प्रजा या रियाया के बारे में। या फिर कुछ अन्य वृत्तांतों में हम सुनते हैं 'हिंदुओं' और 'मुसलमानों' के बारे में, जो मानते थे कि उनका धर्म या मज़हब गोरे ईसाई की वजह से ख़तरे में था।[9] यहाँ तक कि इस विद्रोह के बहुत बाद के जनांदोलनों में भी, मसलन 1905–1911 के स्वदेशी आंदोलन में या 1920 की दहाई के ख़िलाफ़त आंदोलन में भी हमें ऐसे शब्द सुनने को नहीं मिलते जिनके अर्थ दूर-दूर तक क्राउड या मासेज़ के नज़दीक आते हों।[10] स्वदेशी आंदोलन के दौरान सामाजिक बहिष्कार के संदर्भ में बनाने वाली सहमति के लिए रवींद्रनाथ ठाकुर लोक-सम्मति शब्द इस्तेमाल करते हैं।[11] यह शब्द भी, ज़ाहिर है, किसी भी मायने में वैसे नकारात्मक अर्थ नहीं रखता। इसी दौर में कई नये शब्द इस्तेमाल में आने लगते हैं— जैसे जनता, मजदूर, किसान जो अक्सर जाति-समाज से संबंधित पदों के साथ साथ राजनीतिक शब्दावली का हिस्सा बन जाते हैं।

मगर किसी भी सूरत में हमें जनसमूहों का ख़ौफ़ वाला नज़ारा देखने को नहीं मिलता। इसी से हमें सतर्क हो जाना चाहिए कि युरोप के इतिहास और तजरुबे से निकले पदों के ज़रिये अपने संदर्भ को समझने की कोशिश कितनी भ्रामक हो सकती है। यहाँ एकमात्र साम्प्रदायिक फ़सादों के संदर्भ में भीड़ का नकारात्मक अर्थ देखने को मिलता है मगर यह अर्थ अवाम और कुलीन तबक़ों के संदर्भ से, या जिसे वर्गीय व्यवस्था का पतन कहा गया है (कोन्हौंसर) उससे बिलकुल जुदा है। यहाँ आम जनता बनाम कुलीन वर्ग वाला अंतर्विरोध सीधे-सीधे दिखाई नहीं पड़ता। बल्कि एक अर्थ में जनता नाम की चीज़ उन अर्थों में वजूद ही में नहीं आ पायी जिन अर्थों में हम उसे राजनीतिक सिद्धांत के ज़रिये समझते हैं जहाँ उसे एक एकबद्ध इरादे का वाहक माना जाता है जिससे आधुनिक राजतंत्र अपनी वैधता पाते हैं।

बहरहाल, जैसा कि हमने ऊपर कहा है, हमारे यहाँ क्या नहीं हुआ— यह जानने से ज़्यादा ज़रूरी है यह जानना कि वास्तव में यहाँ क्या हो रहा था।

इस संदर्भ में ग़ौरतलब यह है कि हमारे यहाँ औपनिवेशिक शासन के चलते बहुत जल्द ही विदेशी हुकूमत के ख़िलाफ़ एक व्यापक राष्ट्रीय एकता का ताना बाना बुना जाने लगा। उन्नीसवीं सदी की आख़िरी दो दहाइयों में ही राष्ट्रवाद का कलेवर उभर कर आना शुरू होता है हालाँकि 1857 से ही बर्तानिया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ख़िलाफ़ विरोध के समवेत स्वर सुनाई दे रहे थे। ऊपर युरोप की चर्चा में हमने राष्ट्रवाद को उस तरह केंद्र में नहीं रखा क्योंकि वहाँ हम जनसमूहों के खौफ़ के ख़ास संदर्भ को समझने की कोशिश कर रहे थे। वैसे तो फ्रांसीसी क्रांति के बाद से पूरी उन्नीसवीं सदी में युरोप भर में राष्ट्रवाद का उदय देखने को मिलता है जिसके चलते, एकीकरण के ज़रिये, आज के युरोपीय राष्ट्र-राज्य वजूद में आते हैं। युरोप के संदर्भ में सामूहिक बेदख़ली की जो बेहद हिंसात्मक प्रक्रिया चली और जिसके चलते प्राक्-आधुनिक समुदाय नेस्तनाबूद हो गये— उसी प्रक्रिया ने शहरी

[8] देखें, शाहिद अमीन (1995), : 12–13.
[9] देखें, तपती राय (1994), : 12–13.
[10] स्वदेशी ज़माने की विस्तृत चर्चा के लिए देखें, सुमित सरकार (2010), : 12–13.
[11] वही.

समाज का वह किरदार भी पैदा किया जो भीड़ में तनहा, हर लगाव से आज़ाद, वह आदमी था जिसे हान्ना अरेंत मास मैन या भीड़ का आदमी कहती हैं। यह भीड़ का तनहा आदमी, बकौल अरेंत, हर तरह की लामबंदी के लिए हमेशा उपलब्ध रहता है चाहे वे राष्ट्रवादी लामबंदियाँ हों, चाहे बीसवीं सदी की कम्युनिस्ट व फ़ासिस्ट लामबंदियाँ। राष्ट्रवाद युरोपीय समाजों में इन सम्पत्तिविहीन, जड़विहीन लोगों को भविष्य के कथित राष्ट्रीय समाज में बराबरी की जगह देने का वायदा करके वजूद में आता है। इस ज़माने में उन समाजों में जनतंत्र का दूर दूर तक नामो-निशान नहीं था। इस संदर्भ में राष्ट्रवाद इन जनसमूहों को राजनीति में शामिल होने की दावत देता है। राष्ट्रवाद इस तरह एक नयी मास सियासत की शुरुआत करता है।

हिंदुस्तान में औपनिवेशिक शासन के बावजूद प्राक्-आधुनिक समुदायों को उनकी ज़मीन आदि से पूरी तरह बेदख़ल नहीं किया जा सका क्योंकि शुरू से ही उसे बड़े पैमाने पर आदिवासी व किसान विद्रोहों का सामना करना पड़ा। ख़ुद ब्रिटेन के अंदर तब तक औपनिवेशिक शासन के स्वरूप पर सवालिया निशान लगने शुरू हो गये थे।[12] जब तक उपनिवेशवाद ने देश में अपने पैर जमाए तब तक उसके ख़िलाफ़ राष्ट्रवादी लामबंदी तो शुरू हो चुकी थी। 1905 में बंग-भंग यानी बंगाल के विभाजन के ख़िलाफ़ स्वदेशी आंदोलन एक बड़े जन आंदोलन के रूप में उभरा जो छह सालों तक चला। एक और बात हुई जो ख़ासी अहमियत रखती है। बीसवीं सदी की शुरुआत से ही किसी ने किसी रूप में प्रतिनिधित्वकारी संस्थाओं की नींव रखी जाने लगी। बावजूद इसके कि यह प्रयास औपनिवेशिक हुकूमत की पहल पर शुरू हुआ (क्योंकि इसके ज़रिये वह वैधता हासिल करना चाहता था) इसके असर दूरगामी हुए। एक तरफ़ राष्ट्रवाद के ज़रिये अवाम की लामबंदी और दूसरी तरफ़ प्रतिनिधित्वकारी राजनीति के दबावों ने मिलकर एक ऐसी हालत पैदा की जिसमें कुलीन-अभिजन तबक़ों की क़िस्मत आम लोगों की ज़िंदगियों से गहरे ढंग से उलझ गयीं। राष्ट्रवादी नेताओं के लिए उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ व्यापक एकता गढ़ने का काम सबसे बड़ा काम बन गया। इसी वजह से वह हिंदुस्तान की बहुसंख्यक ग़रीब आबादी के साथ अपने रिश्ते को अदावत के रिश्ते की तरह न देखकर बार बार उससे मुख़ातिब होता था। लिहाज़ा हिंदुस्तान सरीखे देशों के सम्पत्तिवान अभिजन चाहते भी तो वह रास्ता अख़्तियार नहीं कर सकते थे जिसे युरोप के इलीट ने अपनाया था। यहाँ शायद अंतोनियो ग्राम्शी जिसे राष्ट्रीय-लोकप्रिय मोर्चा कहते हैं, उसका एक रूप दिखाई देता है। यह पद उस ऐतिहासिक स्थिति को रेखांकित करता है जिसमें अपने सारे अंतर्विरोधों और अंदरूनी संघर्षों के बावजूद अभिजन-कुलीन वर्गों और बुद्धिजीवियों से लेकर ग़रीब किसानों और मजदूरों तक के बीच व्यापक एकता वक़्त की ज़रूरत बन गयी थी। इस बात को हमें स्थूल और औज़ारी अर्थों में नहीं समझना चाहिए गोया एक फ़ौरी राजनीतिक ज़रूरत के चलते एक ऐसा मोर्चा अस्तित्व में आ गया हो।[13] बल्कि हमें इस स्थिति को इस तरह समझना चाहिए कि उपनिवेशवाद अपने वक़्त में इन समाजों की ऐतिहासिक सम्भावनाओं और सीमाओं को एक साथ रचता है। इसी स्थिति के बीच यह राष्ट्रीय-लोकप्रिय हालात की गुंजाइशों को समेटते हुए राजनीतिक क्षितिज के रूप में सामने आता है। इसीलिए हम देखते हैं कि रवींद्रनाथ ठाकुर जैसे अभिजन-कवि के लिए भी लोक की तलाश कितनी ज़रूरी हो जाती है। आख़िरकार उन पर किसी क़िस्म का तात्कालिक राजनीतिक दबाव तो नहीं था, फिर भी बाउल संगीत और कबीर जैसे कवियों से नाता बनाना उनके लिए बहुत ज़रूरी था। रवींद्रनाथ तो महज़ एक उदहारण हैं उस परिघटना के जिसमें उस वक़्त के बुद्धिजीवियों ने पाया कि उनकी क़िस्मतें उनके अपने हमवतनों

---

[12] यह सवाल एडमण्ड बर्क जैसे लोग बर्तानवी संसद में उठा रहे थे कि उपनिवेशों में स्थानीय संस्कृति और संस्थाओं को रौंद कर नहीं, बल्कि उनके अनुसार शासन होना चाहिए. इस बहस के पीछे के कारण पेचीदा हैं और उन पर यहाँ चर्चा सम्भव नहीं है.

[13] औज़ारी को यहाँ 'इन्स्ट्रुमेंटल' के अर्थ में इस्तेमाल किया जा रहा है. यह शब्द सुझाने के लिए रविकांत का शुक्रिया.

की ज़िंदगियों से इस क़दर उलझी हुई हैं कि उनकी राष्ट्रीय तलाश एकबारगी लोकोन्मुखी हुए बिना नहीं रह सकती थी।

सुदीप्त कविराज का तर्क है कि हम जिसे आधुनिकता कहते हैं वह दरअसल कोई एकल परिघटना नहीं है बल्कि कई परिघटनाओं की मिलीजुली एक बनावट है। इसकी मुख्तलिफ़ परिघटनाएँ हर सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ में अलहदा ढंग से, अलहदा तरतीब में सामने आती हैं। ये अलहदा तरतीब ही तय करती है कि उस समाज विशेष में इस बनावट की शक़्ल क्या होगी। युरोप जैसे समाज में जहाँ जनतंत्र के अस्तित्व में आने से पहले ही उद्योगीकरण हो चुका था यानी कृषि समुदायों को बेदख़ल करके ज़मीन और श्रम दोनों को उद्योगीकरण के लिए आज़ाद कराया जा चुका था, आधुनिकता का एक ख़ास चेहरा सामने आता है। इन समाजों में इसी प्रक्रिया के चलते वैयक्तीयन (इण्डिविडुएशन) की प्रक्रिया भी देखने को मिलती है जो उदारवादी जनतंत्र के अमूर्त, बेदाग़ नागरिक के लक्ष्य को हासिल करने की पूर्व शर्त है। उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ज़रूरत होती है व्यक्ति को आदर्श नागरिक और आदर्श श्रमिक की भूमिका में ढालने की। हमारे जैसे समाजों में एक जनांदोलन होने के नाते राष्ट्रवाद शुरू से ही एक साथ जनवादी और जनतांत्रिक अंदेशें साथ लेकर चलता है। इसके साथ अगर यह बात में ध्यान रखें कि प्रतिनिधित्वकारी संस्थाओं का प्रसार (सीमित ही सही) पहले होने के कारण वहाँ लाज़मी तौर पर उन हिंसात्मक तरीक़ों से उद्योगीकरण करना सम्भव नहीं रह गया था। लिहाज़ा उद्योगीकरण और ख़ुद जम्हूरियत की शक़्ल का यहाँ बिलकुल अलग होना लाज़मी था। इस लिहाज़ से देखें तो पाएँगे कि हमारी आधुनिकता कभी भी उस मायने में एक सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान तसव्वुर के रूप में सामने नहीं आयी जैसा कि पश्चिम के इतिहास में देखने को मिलता है उसमें हमेशा पारम्परिक अमलों और तौर तरीक़ों की एक जगह महफ़ूज़ थी। ख़ुद गाँधी और रवींद्रनाथ के विचारों की लोकप्रियता इसका सुबूत है हालाँकि आज़ादी के बाद नये शासक तबक़े ने एक ख़ालिस पश्चिमी आधुनिकता देश पर थोपने की काफ़ी कोशिशें कीं। बेशक, पूँजीपति वर्ग की कोशिश भी यह रही कि वे समाज पर अपना वर्गीय दबदबा क़ायम रखें और उस रास्ते पश्चिम के पूँजीवादी आदर्श को यहाँ क़ायम करें। आज़ादी के बाद इसने एक और ही शक़्ल अख़्तियार की जिसे निष्क्रिय क्रांति कहा गया है जो पूँजीपति वर्ग की कमज़ोरी को दर्शाता है। निष्क्रिय क्रांति का विचार अंतोनियो ग्राम्शी की रचनाओं में मिलता है जिसे 1970 और 1980 के दशकों में कई भारतीय सिद्धांतकारों ने हिंदुस्तान के पूँजीवाद को समझने में मददगार पाया। निष्क्रिय क्रांति का विचार मूलतः उस स्थिति की तरफ़ इशारा करता है जिसमें सरमायादार तबक़ा ख़ुद को प्राक्-पूँजीवादी ताक़तों की बनिस्बत कमज़ोर पाता है और इसलिए उसका जड़ से सफ़ाया कर पाने में असमर्थ साबित होता है। लिहाज़ा वह पश्चिमी पूँजीवादी विकास की तर्ज़ पर बदलाव न कर के आहिस्ता-आहिस्ता, राज्य की ताक़त के इस्तेमाल से बदलाव लाने की कोशिश करता है। आज की तारीख़ में अगर इस तजरुबे को कविराज के सिद्धांतीकरण के आधार पर समझने की कोशिश करें तो इसे एक अधूरी क्रांति के रूप में न देख कर आधुनिकता की एक मुख़्तलिफ़ बनावट के रूप में समझा जा सकता है।[14]

---

[14] निष्क्रिय क्रांति के विचार की विस्तृत चर्चा के लिए देखें अशोक सेन (1976), 'ब्युरोक्रेसी ऐंड सोशल हेजेमॅनी', *एसेज़ इन ऑनर ऑफ़ प्रोफ़ेसर एस.सी. सरकार,* पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, सुदीप्त कविराज (2010/1987), 'द पैसिव रेवोल्यूशन ऐंड इण्डिया : अ क्रिटीक', कविराज (2010), *ट्रेजेक्टरीज़ ऑफ़ द इण्डियन स्टेट : पॉलिटिक्स ऐंड आइडियाज़,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत और पार्थ चटर्जी (1986), *नैशनलिस्ट थॉट इन द कोलोनियल वर्ल्ड : अ डेरिवेटिव डिस्कोर्स ?,* ज़ेड बुक्स व यूनाइटेड नेशंस युनिवर्सिटी, टोक्यो व लंदन.

कविराज के सिद्धांतीकरण की रोशनी में हम अपनी आधुनिकता को एक और संदर्भ में बिलकुल अलग नज़रिये से देख़ सकते हैं। इस नज़रिये से देखें तो जिसे हम एक कमी समझे बैठे थे वही शायद हमारी सबसे बड़ी ताक़त है। हमारे यहाँ उद्योगीकरण कभी भी पूरी तरह ताक़तवर वर्गों की शर्तों पर नहीं हो पाया और ज़मीन अधिग्रहण आदि के ख़िलाफ़ समाज में लगातार आंदोलन-संघर्ष चलते रहे हैं यह तो हम ऊपर कह ही चुके हैं जिसकी वजह से आधुनिकता और पूँजीवाद से जुड़ी हिंसा यहाँ अपेक्षाकृत बहुत कम रही है। मगर उससे भी बड़ी बात यह है कि हमारे यहाँ तमाम इनसानी रिश्ते फ़क़त व्यक्ति-केंद्रीयता द्वारा परिभाषित पैसे के रिश्ते बन कर नहीं रह गये हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो सरमायेदारी हमारे समाज में वो गहरी पैठ न बना पायी जो विकसित पूँजीवादी देशों में देखने को मिलती हैं। आज भी हमारे समाज में रिश्तों का एक बहुत बड़ा दायरा पूँजीवाद के बाहर है।[15]

जनवाद उर्फ़ पॉपुलिज़म

इसी पृष्ठभूमि में हमें ऊपर की बहस को समझना होगा। ऐसा लगता है कि इसी वजह से हमारे यहाँ भीड़ और हुजूम के वैसे नकारात्मक अर्थ सामने नहीं आते जैसे हम युरोप में देखते हैं। मगर इन शब्दों से भी ज़्यादा दिलचस्प है एक और पद जिससे हमारा साबिक़ा रोज़ाना होता है मगर जिसके लिए हमारी शब्दावली में कोई मौज़ूँ शब्द नहीं है। यह पद है पॉपुलिज़म जिसे हम कभी लोकप्रियतावाद तो कभी लोकलुभावनवाद जैसे शब्दों से चिह्नित करने की कोशिश करते हैं। ये दोनों शब्द ही, बमुश्किल, इस परिघटना के एक छोटे से हिस्से को पकड़ पाते हैं। वे अंग्रेज़ी के मूलत: नकारात्मक अर्थ को कुछ हद तक पकड़ते हैं जो, हद से हद, हमारे अंग्रेज़ी मीडिया में पॉपुलिज़म के इस्तेमाल से मेल खाता है, मगर जो हमारे अपने तज़रुबे से क़तई कोई ताल्लुक़ नहीं रखता है। मसलन अगर लालू प्रसाद यादव और मायावती से लेकर ममता बनर्जी और अरविंद केजरीवाल तक सब पॉपुलिस्ट हैं तो इस पद के अर्थ ढूँढने में ख़ासी दिक़्क़त पेश आ सकती है। अगर हम लातीनी अमेरिका के तज़रुबे से या फिर उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों के रूस के तजुर्बों को देखें तो पाएँगे कि वहाँ भी ये अर्थ क़तई नाकाफ़ी साबित होते हैं। यहाँ तक कि उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में अमेरिका में वजूद में आयी राजनीतिक प्रवृत्ति जिससे इसने अपना नाम पाया वह भी एक अलग अर्थ दर्शाती है। अमेरिका में पॉपुलिज़म की नींव पड़ी थी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में वजूद में आये किसान मोर्चे के ज़रिये। इसका पूरा नाम था नैशनल फ़ार्मर्स अलायन्स ऐंड इण्डस्ट्रियल यूनियन और जिसकी गतिविधियों में सहकारी समितियाँ बनाना, बिचौलियों को ख़त्म कर के सीधे सीधे बड़े शहरों की मण्डियों में किसानों के उत्पाद बेचना आदि शामिल थे। इसी किसान मोर्चे के कंधों पर सवार होकर सदी के आख़िरी दशक में पीपल्स पार्टी नामक एक राजनीतिक दल भी 1891 में वजूद में आया। यह दल ज़्यादा दिन न चल पाया, मगर दिलचस्प है कि इसी पार्टी का दूसरा नाम पॉपुलिस्ट पार्टी पड़ा। इस पार्टी का नज़रिया मूलत: ख़ास क़िस्म का उग्र कृषकवाद था जिसकी मुख्य माँगों में किसानों की ख़ास माँगों के अलावा राष्ट्रीय बैंकों का ख़ात्मा, सेनेटरों का सीधा चुनाव, आठ घंटे का कार्य-दिवस और रेलवे, टेलीग्राफ़ आदि पर सरकारी नियंत्रण शामिल थे। इसी तरह रूस में जिस संगठन और प्रवृत्ति को पॉपुलिस्ट कहा गया, उसका नाम था नारोदनाया वोल्या, अर्थात् जनता का इरादा।

इन आंदोलनों या दलों को क़रीब से देखें तो आसानी से समझ सकते हैं कि लोकप्रियतावाद या लोकलुभावनवाद जैसे पदों में एक और दिक़्क़त है। और, वह यह कि वह पॉपुलिज़म को महज़ राजनीतिक हलकों से परिचालित प्रवृत्ति के रूप में देखते हैं जो अवाम (या उसके एक तबक़े) को

---

[15] ये तर्क मेरे विकसित किये हुए हैं. देखें, आदित्य निगम (2014), वही. और आदित्य निगम (2011), *डिज़ायर नेम्ड डिवेलपमेंट,* पेंगुइन बुक्स, नयी दिल्ली.

रिझाने की मंशा से उससे मुख़ातिब रहती है। हक़ीक़त यह है कि यह एक बेहद पेचीदा परिघटना है जिसमें अक्सर नेता और उसके मुरीद दोनों ही राजनीतिक व्यवस्था के बाहर से आते हैं। कभी-कभी स्थापित राजनीतिक दलों के नेता भी जनता को रिझाने की कोशिशें करते हैं और उसके लिए हर तरह के हथकण्डे अपनाते हैं। मगर इतना भर ही पॉपुलिज़म नहीं हैं। पॉपुलिज़म का यह अर्थ चालू राजनीतिक शब्दावली में गाली की तरह इस्तेमाल होता है मगर हम उसकी गम्भीर समझ बनाना चाहते हैं तो हमें इसके लिए एक बेहतर शब्द ढूँढना होगा। जैसे कि आगे की चर्चा से स्पष्ट होगा, मैं जो तर्क रखने जा रहा हूँ उसका मर्म यह है कि *पॉपुलिज़म का ख़ुद जनतंत्र से एक गहरा रिश्ता है। यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि बिना उसके जनतंत्र उदारतावाद की गिरफ़्त में हमेशा क़ैद रहने को अभिशप्त है।*[16] इसलिए आगे इस लेख में मैं पॉपुलिज़म के लिए जनवाद शब्द का इस्तेमाल करूँगा। इससे जनतंत्र और जनवाद के ऐतिहासिक रिश्तों से भी हम बाख़बर रहेंगे और साथ ही उसे महज़ राजनीतिक हलक़ों के एक पैंतरे की तरह देखने समझने की प्रवृत्ति से भी बच पाएँगे। इस अर्थ में पॉपुलिज़म का ताल्लुक़ पीपल से है, बिलकुल वैसे ही जैसे जनवाद के ताल्लुक़ जनता से है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जनवाद पर जो शोध हुआ है उससे भी स्थिति बहुत साफ़ नहीं होती। इसकी एक वजह तो यह थी कि 1960 और 1970 के दशकों में इस विषय पर जो काम हुआ उस पर उस ज़माने में समाज-विज्ञान पर हावी मॉर्डनाइज़ेशन थियरी का ज़बरदस्त असर था। लिहाज़ा, डेविड एप्टर जैसे विद्वान तीसरी दुनिया के देशों के नये राजनीतिक निज़ामों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि :

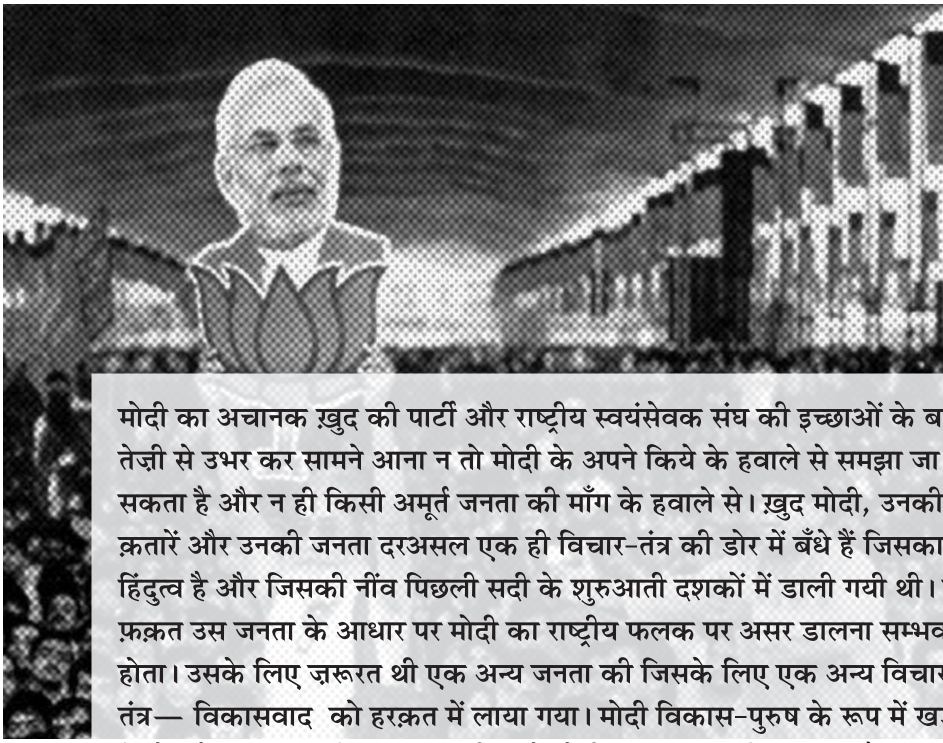
> आज हम दुनिया भर में जो देख रहें हैं वह खिचड़ी राजनीतिक व्यवस्थाओं का एक पूरा सिलसिला है। उनमें से सबसे मज़बूत भी कमज़ोर है। उनमें अपने बाहरी रूप में सबसे ज़्यादा चट्टानी लगने वाली भी अपने अमलों में विभाजित और विचारों में पनियाई हुई होती है। इनमें कुछ सर्वसत्तावादी (टोटेलिटेरियन) हैं। *तक़रीबन सारी पॉपुलिस्ट हैं और, सही मायने में, मूलतः प्राक्-जनतांत्रिक हैं, जनतंत्र-विरोधी नहीं।* (लक्लाऊ 1977 : 143 में उद्धृत, ज़ोर हमारा)

उस ज़माने में लिख रहे सभी विद्वान इसी अंदाज़ में जनवाद को अपरिपक्वता और पिछड़ेपन की निशानी मानते थे। मार्क्सवादी विद्वानों में एक दूसरी दिक़्क़त देखने को मिलती है कि वे अपनी सारी ताक़त उसके वर्ग चरित्र की शिनाख़्त करने में ही ख़र्च कर देते हैं जिसका नतीजा यह होता है कि वे भी इसकी पेचीदा बनावट नहीं समझ पाते हैं और यह भूल जाते हैं कि जनवाद कई क़िस्मों का हो सकता है। बक़ौल लक्लाऊ, इन विद्वानों में एक बहस इस सवाल के इर्द-गिर्द घूमती है कि क्या यह एक ख़ास क़िस्म का आंदोलन है या विचार-तंत्र (आइडियोलॅजी)। इस तरह देखने की दिक़्क़त यह है कि न तो आप जनवादी आंदोलनों की तमाम क़िस्मों को देख पाते हैं और न ही विचार-तंत्र और वर्ग के रिश्ते की पेचीदगी को समझ पाते हैं।[17] लक्लाऊ का तर्क यह है कि किसी भी विचार-तंत्र के कई तत्त्व होते हैं जिनका कोई ख़ास वर्गीय चरित्र नहीं होता। ये तत्त्व किसी भी विचार-तंत्र में अपनी जगह बना सकते हैं और जिन सिद्धांतों के आधार पर वे यह जगह बनाते हैं वही एक को दूसरे से अलग करते हैं। मगर सिर्फ़ इन तत्त्वों के आधार पर उनका 'वर्ग चरित्र' तय कर पाना मुश्किल होता है। मसलन, जन लोकपाल बिल की माँग या भ्रष्टाचार ख़त्म करने की मुहिम का कोई वर्ग चरित्र नहीं

---

[16] पॉपुलिज़म का यह अर्थ सिर्फ़ मेरे अपने दिमाग़ की उपज नहीं बल्कि इस सवाल पर सबसे गम्भीर रूप से चिंतन करने वाले आलिमों और सिद्धांतकारों की रचनाओं से भी निकलता है. मुख्यतः मेरी इन प्रस्थापनाओं पर अर्जेंटीनी मूल के राजनीतिक सिद्धांतकर एर्नेस्तो लक्लाऊ के काम का क़ाफ़ी असर देखने को मिलेगा हालाँकि मैं लक्लाऊ को अपने मुक़ाम से पढ़ता हूँ और कई जगह ख़ुद भारतीय तज़रुबों के नुक़्ता-ए-नज़र से मेरी राह उनसे जुदा भी हो जाती है. देखें, एर्नेस्तो लक्लाऊ (1977), *पॉलिटिक्स ऐंड आइडियॉलॅजी इन मार्क्सिस्ट थियरी,* वरसो, लंदन. एर्नेस्तो लक्लाऊ (2005), *ऑन पॉपुलिस्ट रीज़न,* वरसो, लंदन व न्यूयॉर्क

[17] विस्तृत चर्चा के लिए देखें लक्लाऊ (1977) : 159-62.



मोदी का अचानक ख़ुद की पार्टी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की इच्छाओं के बावजूद तेज़ी से उभर कर सामने आना न तो मोदी के अपने किये के हवाले से समझा जा सकता है और न ही किसी अमूर्त जनता की माँग के हवाले से। ख़ुद मोदी, उनकी क़तारें और उनकी जनता दरअसल एक ही विचार-तंत्र की डोर में बँधे हैं जिसका नाम हिंदुत्व है और जिसकी नींव पिछली सदी के शुरुआती दशकों में डाली गयी थी। मगर फ़क़त उस जनता के आधार पर मोदी का राष्ट्रीय फलक पर असर डालना सम्भव न होता। उसके लिए ज़रूरत थी एक अन्य जनता की जिसके लिए एक अन्य विचार-तंत्र— विकासवाद को हरक़त में लाया गया। मोदी विकास-पुरुष के रूप में खड़े किये गये। यह खड़ा किया जाना भी न तो मोदी का ख़ुद का किया-धरा है, न उनकी पार्टी का, बल्कि उस नवउदारतावादी जमात का है जिन्हें सरमायेदार घरानों का समर्थन हासिल है।

है। एक समय में, एक ख़ास संदर्भ में वह एक ऐसे विचार-तंत्र का हिस्सा बन सकती हैं जहाँ उसके आशय रैडिकल हो जाएँ और उसकी धार मूलत: बड़े कॉरपोरेट घरानों के ख़िलाफ़ हो। मगर यह भी उतना ही मुमकिन है कि किसी दूसरे संदर्भ में, वह एक प्रतिगामी विचार-तंत्र के साथ जुड़ जाए और भ्रष्टाचार ख़त्म करने के नाम पर ग़रीब आदमी को अपना निशाना बनाए और उसके ज़रिये एक भयावह सर्वसत्तावादी राज्य की नींव डाल दे। ऐसा अक्सर फ़ासिस्ट निज़ामों में हुआ भी है।

जो भी हो, उस ज़माने के शोध अपनी सारी ख़ामियों के बावजूद, इन जनवादी आंदोलनों के कई पहलुओं पर रोशनी डालने में कामयाब हुए। कुछ हद तक वे इस बात को रेखांकित कर पाए कि ये मूलत: यथास्थिति विरोधी होते हैं, पारम्परिक राजनीतिज्ञों के प्रति अविश्वास और सांस्थानिक प्रकियाओं का विरोध इनकी ख़ास पहचान होती है। उनका यह रवैया जनता की सीधे लामबंदी की कोशिशों में नज़र आता है।[18]

इसी तरह बीसवीं सदी में लातीनी अमेरिका के कई देशों में इस तरह के कई आंदोलन देखने को मिलते हैं। लातीनी अमेरिका के संदर्भ में जो अध्ययन हुए हैं और जिनकी चर्चा लक्लाऊ बा-तफ़सील करते हैं, उन सभी में इन्हें पिछड़ेपन की निशानी के तौर पर समझने की प्रवृत्ति हावी जान पड़ती है।[19]

---

[18] वही : 147, 150.

[19] लक्लाऊ ख़ास तौर पर जीनो जर्मेनि और तोर्कुआतो द तेल्ला के महत्त्वपूर्ण शोध पर तवज़्ज़ो देते हैं, क्योंकि इन्हें इस विषय का सबसे उम्दा शोध कहा जा सकता है.

यह नज़रिया अपने आप में बहुत भ्रामक है क्योंकि वह इस बात को भी नज़रअंदाज़ कर देता है कि ख़ुद युरोप में फ़ासिस्ट आंदोलनों में भी जनवाद के तत्त्व भरपूर मात्रा में मिलते हैं। उनका यही तर्क एक मायने में इस परिघटना के गम्भीर अध्ययन के रास्ते खोलता है। ऐसा इसलिए कि इसके ज़रिये वे यह स्थापित करते हैं कि जनवाद न तो एक ख़ास किस्म का आंदोलन है और न ही एक ख़ास तरह का विचार-तंत्र। इसके बरअक्स लक्लाऊ का मानना है कि जनवाद एक जनोन्मुखी आह्वान (पॉपुलर इंटरपैलेशन) है जो किसी भी विचार-तंत्र और आंदोलन में मौजूद हो सकता है। लिहाज़ा वे कहते हैं कि :

> इसी वजह से हम एक साथ हिटलर, माओ और पेरों [अर्जेंटीना के राजनेता] को जनवादी कह सकते हैं। इसलिए नहीं कि उनके आंदोलनों के सामाजिक आधार एक जैसे थे; न ही इसलिए कि उनके विचार-तंत्र एक ही वर्ग हित को मुखरित करते थे बल्कि इसलिए कि इन सभी के विचारतंत्रीय विमर्श में जनोन्मुखी आह्वान दिखाई देते हैं महज़ अपनी अलहदगी का दावा करते हुए नहीं बल्कि अदावत पर ज़ोर देते हुए।[20]

लक्लाऊ यह भी मानते हैं कि जनवाद का आविर्भाव ऐतिहासिक तौर पर वर्चस्वशाली विचारतंत्रीय विमर्श के संकट के साथ जुड़ा है जो ख़ुद एक बड़े सामाजिक संकट का हिस्सा होता है। उसके उदय को एक ज़्यादा व्यापक संकट की अलामत के तौर पर पढ़ना चाहिए।

लगभग तीन दशक बाद लक्लाऊ फिर एक बार इस पेचीदा मसले की ओर रुख़ करते हैं और अपनी बेहद महत्त्वपूर्ण किताब *ऑन पॉपुलिस्ट रीज़न* में इस विषय पर नयी रोशनी डालते हैं। पद्धतिगत रूप से वे ये साफ़ कर देते हैं कि उन्होंने जनवाद को सिर्फ़ उसकी कमियों और अभावों के ज़रिये समझने की कोशिश करने वाले नज़रिये को ख़ारिज कर दिया है, क्योंकि इस रवैये का सारा ज़ोर उसकी अस्पष्टता, उसके विचारतंत्री खोखलेपन आदि के ऊपर रहता है। उसे किसी क़िस्म के विकार या भटकाव के रूप में देखना उसके गम्भीर अध्ययन के रास्ते में आड़े आता है।[21] अपने इस अध्ययन में लक्लाऊ राजनीतिक दर्शन के एक ख़ास आग्रह की ओर इशारा करते हैं जो अफ़लातून के ज़माने से चला आ रहा है और जिसे वे जनता और जनवाद के प्रति हिक़ारत के रुझान के लिए मूल रूप से दोषी ठहराते हैं। उनका मानना है कि यह आग्रह सिर्फ़ जनवाद को ही नहीं बल्कि कुल मिला कर सियासत को ही सिरे से ख़ारिज करता है और मानता है कि समुदाय का प्रबंधन एक ऐसी प्रशासनिक ताक़त का काम है जो जानती है कि समुदाय का भला किस में है।[22] इस अर्थ में वे कहते हैं कि जनवाद हमेशा एक ख़तरनाक अतिरेक से जुड़ा हुआ रहा है जो तार्किकता और सर्वज्ञ दार्शनिक-राजा के तसव्वुर को चुनौती देता है।[23] अपने इस शोध से वे इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जनवाद किसी एक ख़ास चीज़ या परिघटना का नाम नहीं है क्योंकि यह पद किसी परिघटना विशेष को चिह्नित न कर के एक ऐसे सामाजिक तर्क की तरफ़ इशारा करता है जिसके असर कई परिघटनाओं को चीरते हुए निकलते हैं। *सीधे साफ़ शब्दों में कहा जाए तो जनवाद सियासत गढ़ने का तरीक़ा भर है।*[24]

लक्लाऊ का यह निष्कर्ष हमारे लिए बेहद अहमियत रखता है, क्योंकि वह दरअसल हमें ख़ुद अपने संदर्भ में जनतंत्र के सवाल को भी समझने में मदद करता है। समाजविज्ञान में शिक्षित लोगों के लिए तो जनतंत्र एक उदारवादी खाँचे में रख कर समझी जाने वाली चीज़ बन कर रह जाती है। प्रातिनिधिक प्रणाली को ही हम जनतंत्र समझ बैठते हैं। इसके पीछे भी एक अति-सरलीकृत धारणा

[20] वही : 174.
[21] देखें, लक्लाऊ (2005) : 13.
[22] वही : x.
[23] वही : x.
[24] वही : xi.

है जो हमें यह बताती है कि अवाम या जनता पहले से मौजूद शै है जो अपने नुमाइंदे चुनती है और नुमाइंदों का काम सिर्फ़ नुमाइंदगी करना होता है। वैसे तो 1920 के दशक में लिखते हुए ही कार्ल श्मिट ने उदारतावाद की इस मान्यता का खण्डन करते हुए यह दावा किया था कि दरअसल वो घड़ी सुदूर भविष्य में ही आ सकती है जब जनतंत्र पूरी तरह स्थापित हो जाए और शासक और शासित के बीच की दूरी ग़ायब हो जाए। इस बीच एकमात्र अहम सवाल यह बन जाता है कि :

> जनता का इरादा गढ़ने के लिए ज़रूरी साधन किसके क़ब्ज़े में हैं विशेषकर फ़ौजी और राजनीतिक ताक़त, प्रचारतंत्र, प्रेस के ज़रिये लोगों की राय पर नियंत्रण, पार्टियों के संगठन, जनसभाएँ और शिक्षातंत्र। ख़ास तौर पर, *राजनीतिक सत्ता, जो क़ायदे से अवामी इरादे से निकलनी चाहिए, दरअसल उस अवामी इरादे को गढ़ती है।* (श्मिट 1988 : 29, ज़ोर हमारा)

याद रखने की ज़रूरत है कि श्मिट की यह आलोचना एक नात्सी समर्थक बुद्धिजीवी की आलोचना है जो एक मायने में उस ज़माने की मास डेमॉक्रैसी के उदय का जश्न मना रहा था। लिहाज़ा वह इस बात को बख़ूबी समझ रहा था कि अवाम की राय, उसका इरादा, जिसके नाम पर राजनीति का शास्त्र खड़ा था वह दुनिया की आँखों के सामने गढ़ी जा रही थी राजनीतिक सत्ता की ओर बढ़ते हुए, हिंसात्मक ताक़त और संगठित प्रचारतंत्र से लैस एक खूँखार आंदोलन के ज़रिये।

श्मिट जिसे एक संक्रमण का दौर कहते हैं वह शायद कुल मिलाकर राजनीति मात्र की सिफ़त है। वह घड़ी शायद जम्हूरियत का सबसे बड़ा यूटोपिया है जिसमें शासक और शासित की दूरी बिलकुल ग़ायब हो जाएगी और राजनीतिक सत्ता सचमुच अवाम के इरादे को व्यक्त करेगी। इसीलिए हाल के दशकों में हुआ शोध और ख़ुद लक्लाऊ का काम हमें आगाह करता है कि दरअसल यह राजनीति का हमेशा पीछे खिसकता क्षितिज है। वह कभी मूर्त रूप में हासिल नहीं हो सकता, बेशक़ वह हमारे आज के अमल को निर्देशित करता रहे। जनता का इरादा भी ख़ुद नुमाइंदगी की प्रक्रिया में ही वजूद में आता है और नुमाइंदा महज़ एक निष्क्रिय प्रतिनिधि नहीं होता। एक अर्थ में जनता ख़ुद तब तक वजूद में नहीं आती जब तक उसका आह्वान नहीं होता। दीन–दुनिया से बेख़बर अपनी रोज़ाना ज़िंदगी जी रहे लोग जनता नहीं होते। तब, उस स्थिति में, मुमकिन है, वे किसी अन्य सामाजिक पहचान के ज़रिये अपना परिचय देते हों, मगर एक व्यापक सियासी पहचान तभी बनती है जब उसका आह्वान होता है। यह आह्वान, बक़ौल लुई अल्थुसे, न नेता करता है न उसके मुरीद बल्कि विचार–तंत्र करता है। यह विचार–तंत्र राष्ट्रवाद का हो सकता है, समाजवाद या फ़ासीवाद का भी हो सकता है। इस अर्थ में अगर नरेंद्र मोदी के हालिया उभार को एक मिसाल के तौर पर देखें तो शायद बात बेहतर समझ आये। मोदी का अचानक ख़ुद की पार्टी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की इच्छाओं के बावजूद तेज़ी से उभर कर सामने आना न तो मोदी के अपने किये के हवाले से समझा जा सकता है और न ही किसी अमूर्त जनता की माँग के हवाले से। ख़ुद मोदी, उनकी क़तारें और उनकी जनता दरअसल एक ही विचार–तंत्र की डोर में बँधे हैं जिसका नाम हिंदुत्व है और जिसकी नींव पिछली सदी के शुरुआती दशकों में डाली गयी थी। मगर फ़क़त उस जनता के आधार पर मोदी का राष्ट्रीय फ़लक पर असर डालना सम्भव न होता। उसके लिए ज़रूरत थी एक अन्य जनता की जिसके लिए एक अन्य विचार–तंत्र— विकासवाद को हरक़त में लाया गया। मोदी विकास–पुरुष के रूप में खड़े किये गये। यह खड़ा किया जाना भी न तो मोदी का ख़ुद का किया–धरा है, न उनकी पार्टी का, बल्कि उस नवउदारतावादी जमात का है जिन्हें सरमायेदार घरानों का समर्थन हासिल है। मगर इसी बीच आम आदमी के पदार्पण ने अन्य आह्वान पैदा किया जिसके जवाब में चायवाला, सेवक या चौकीदार जैसे शब्द उछाले गये। अब दो अलग क़िस्म के आह्वानों का नतीजा दो अलग लामबंदियों में देखा जा सकता है जिनमें वर्चस्व की लड़ाई का चलना लाज़मी है।

आम आदमी पार्टी के उभार को समझने के लिए हमें एक और बात ध्यान में रखनी होगी। यह

एक बिलकुल नया हस्तक्षेप था/है, जिसका विचार-तंत्र के स्तर पर कोई साफ़ पिछला इतिहास, कम से कम पहली नज़र में तो दिखाई नहीं पड़ता। मगर ऐसा भी नहीं है कि यह आंदोलन बिलकुल ही स्वयम्भू था। ग़ौर करें तो ख़ुद हमारे सामाजिक-राजनीतिक जीवन में ऐसी राजनीति-विमुख धाराएँ रही हैं जो विचार के स्तर पर हमेशा धड़कती रही हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर का ख़याल तो अनायास आता ही है, मगर यहाँ सबसे मज़बूत हाज़िरी तो गाँधी की है जो राजनीति में रह कर भी हमेशा उससे अपनी दूरी बनाए रखते थे। इसी तरह मानवेंद्र नाथ राय का रैडिकल डेमॉक्रैसी का तसव्वुर या 1970 के दशक में जयप्रकाश नारायण का दल-विहीन जनतंत्र का विचार इस बात की ओर इशारा करते हैं कि हमारे मुल्क में राजनीति की आलोचना के कई महत्त्वपूर्ण उपादान मौजूद हैं। मगर शायद इससे भी ज़्यादा अहम बात यह है कि पिछले समय में जिस तरह राजनीति का दिवाला निकला है और सिरे से तमाम पार्टियाँ जनता की लूट में शरीक़ दिखाई दी हैं उसने एक नये क़िस्म के विमर्श की ज़मीन तैयार की जिसकी एक बानगी *रंग दे बसंती* जैसी फ़िल्म में देखने को मिलती है। याद रहे कि इसी ज़माने में जेसिका लाल की एक सांसद-पुत्र द्वारा हत्या के बाद उसका रिहा हो जाना एक नायाब आंदोलन को जन्म दे चुका था जिसमें राजनीति से कोसों दूर रहने वाले नौजवान बड़ी तादाद में हरक़त में आये थे। एक तीसरी और बहुत महत्त्वपूर्ण धारा उस सियासत की है जो सूचना के अधिकार को लेकर चल रहे आंदोलन से निकलती है जिसके ज़रिये इसी दरमियान कई छोट-बड़े घोटालों का पर्दाफ़ाश हुआ। आहिस्ता-आहिस्ता इन घोटालों का दलीय राजनीति से गहरा रिश्ता लोगों के सामने आने लगा। कहा जा सकता है कि इस तरह, नये आंदोलनों की ऊर्जा और पुरानी दलेतर राजनीति का ख़याल अरविंद केजरीवाल जैसी शख़्सियत के रूप में एक जगह इकट्ठा होने लगा। यह एक नया आह्वान था जिसमें एक अलग क़िस्म का विचार-तंत्र वजूद में आ रहा था। यह एक जवाबदेह और भ्रष्टाचार-मुक्त शासन की माँग के इर्द-गिर्द उभरता प्रत्यक्ष जनतंत्र का दावा करता विचार-तंत्र था। मगर इसकी शक़्ल-सूरत साफ़ नहीं थी। मगर यही इसकी सबसे बड़ी ताक़त थी। एक बार फिर लक्लाऊ की शब्दावली में कहें तो यह एक रिक्त प्रतीक (एम्प्टी सिग्निफ़ायर) था जिसमें लोग अपने हिसाब से अर्थ भर लेते हैं। भ्रष्टाचार इस क़लाम का मूल पद है जिसका सीधा रिश्ता सूचना-अधिकार के आंदोलन से है मगर जिसके सम्भावित अर्थ हैं। जिस तरह से अपने पहले चरण में यानी अन्ना आंदोलन के चरण में इस आंदोलन ने तक़रीबन समाज के हर तबक़े से समर्थन हासिल किया उससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि एक रिक्त प्रतीक के रूप में उसका चरित्र ही उसके व्यापक जनसमर्थन के लिए ज़िम्मेदार था।

हमारे लिए दिलचस्प बात तो यह है कि इन दोनों ही राजनीतिक धाराओं में हमें जनवाद के तत्त्व देखने को मिल सकते हैं लेकिन हम इनमें से किसी एक को भी जनवादी आंदोलन या धारा नहीं कह सकते। दोनों की सियासत बिलकुल अलग है और अलग उद्देश्यों की तरफ़ उनका रुख़ है। उनकी सम्भावनाएँ भी अलग-अलग हैं। मगर दोनों में हम कुछ हद तक वह ख़तरनाक अतिरेक देख सकते हैं जो प्रातिनिधिक व्यवस्था के बने बनाए ढाँचों को और उसकी तर्कसंगत प्रक्रियाओं को अलग अलग ढंग से चुनौती देता है। हम यह भी देख सकते हैं कि जहाँ एक में सीधे-सीधे फ़ासीवादी अंदेशे उभर कर सामने आते हैं, दूसरे की दिशा जनतंत्र के विस्तार की तरफ़ दिखाई पड़ती है कम से कम इस मुक़ाम पर।

हमें इस बात का अहसास है कि कइयों को यह एतराज़ हो सकता है कि हम फ़ासिज़म के साथ जनवाद का नाता जोड़ रहे हैं। पहली नज़र में यह बात बिलकुल ग़लत और आपत्तिजनक लग सकती है। इसलिए एक बात यहाँ साफ़ कर देना ज़रूरी है। सिर्फ़ जनवाद ही नहीं, ख़ुद जनतंत्र/जम्हूरियत के बारे में हमें ध्यान रखना चाहिए कि फ़ासिज़म व सर्वसत्तावाद से उसका रिश्ता बहुत सीधा-सीधा अदावत का नहीं है। आम तौर पर हम एक को दूसरे का विलोम मानते हैं मगर सच्चाई यह है कि फ़ासिज़म जम्हूरियत के अंदर हमेशा एक सम्भावना की तरह मौजूद रहता है। इसके दो कारण हैं :

(1) जनतंत्र के वजूद में आने से राजनीतिक सत्ता का किरदार बिलकुल बदल जाता है। क्लॉड लेफ़ोर की भाषा में कहा जाए तो सत्ता एक ख़ाली जगह की शक़्ल में उभरती है। जिस के मायने यह भी हुए कि वह बुनियादी तौर पर एक खुली जगह भी है। खुली इसलिए भी कि इसमें अब घुसने के लिए सम्पत्ति, शिक्षा आदि किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि उसकी मान्यता है कि सब इनसान बराबर हैं। इसका यह मतलब भी हुआ कि यहाँ किसी बात की कोई गारंटी नहीं हो सकती। (2) जनतंत्र का ताल्लुक़ क्योंकि अक्सरियत या बहुसंख्या से है इसलिए उसकी ज़िंदगी में बहुत जल्द ही अक्सरियत की तलाश राजनीतिक आधार से जुदा होकर अन्य कई आधारों की तरफ़ चली गयी जिसमें कभी धर्म, कभी नस्ल, तो कभी पहचान के अन्य रूप काम आये। उदारतावादी शास्त्र तो मानता है कि जनतांत्रिक अक्सरियत राजनीतिक और वैचारिक मतभेदों पर आधारित होती है मगर हक़ीक़त यह है कि उसके आधार पहचान के सवालों से अक्सर गुँथे हुए होते हैं।[25] किसी न किसी क़िस्म का राष्ट्रवाद अक्सरियत की इस तलाश का ज़रिया बनता है।

बहरहाल, जनतंत्र और जनवाद के रिश्ते को समझने के लिए एक मसले पर थोड़ी और चर्चा ज़रूरी हो जाती है। पहले ही कहा जा चुका है कि जनतंत्र की जड़ में बुनियादी मूल्य बराबरी का है। आधुनिक राजनीति में यह एक बिलकुल नयी स्थिति पैदा करता है और बक़ौल अलेक्सिस टॉकवील जनतांत्रिक क्रांति की नींव रखता है क्योंकि एक बार यह ख़याल आम होता है तो यह भी लाज़मी हो जाता है कि आहिस्ता-आहिस्ता बराबरी को समाज के ज़्यादा से ज़्यादा क्षेत्रों में लागू करने की माँग पैदा करे। टॉकवील अपने ज़माने की जनतांत्रिक क्रांतियों पर मनन करते हुए बराबरी के जुनून की बात करते हैं। बराबरी का ख़याल कब और कहाँ, किस रूप में हाज़िर होगा यह कह पाना मुश्किल है। इसी अंदेशे को बाँध कर रखने के लिए जनतंत्र का उदारतावाद से ज़बरन ब्याह कर दिया जाता है और प्रातिनिधिक व्यवस्था का काम ही इसे संस्थागत व पद्धतिगत औपचारिकताओं में क़ैद कर के रखना हो जाता है। इन्हीं औपचारिकताओं के ख़िलाफ़ वह जुनून लगातार बग़ावत करता है। वह अतिरेक जो इस इंतज़ाम के क़ाबू से निकल कर बार-बार बाहर चला आता है और व्यवस्था को बाहर से चुनौती देता है वही दरअसल जनवाद की शक़्ल में हमारे सामने आता है। यहाँ यह याद रखना ज़रूरी है कि नितांत फ़ासीवादी आंदोलनों में भी अक्सर छोटे आदमी के विद्रोह के तत्त्व मौजूद होते हैं जो कभी कभार इसे भौंड़े रूप में ही सही, उसी बराबरी के जुनून को आकार देते हैं।[26] ख़ुद नरेंद्र मोदी की परिघटना को अगर ग़ौर से देखें तो पाएँगे कि उसमें भी ऐसे ही विद्रोह के तत्त्व मौजूद हैं। उसे व्यापक स्तर पर मिल रहा जनसमर्थन, ख़ास कर ग़रीबों के बीच, इस बात तो दर्शाता है कि कहीं न कहीं वह समूचे सेकुलरवादी क़लाम के अभिजनवाद के ख़िलाफ़ विद्रोह को भी दिखाता है। अक्सर इस छोटे आदमी का विद्रोह अनगिनत छोटी-छोटी स्थानीय अदावतों के साथ गुँथ कर एक साम्प्रदायिक रंग भी ले लेता है।[27]

बात समेटते हुए यह कहा जा सकता है कि जम्हूरियत कोई पकी-पकाई, बनी-बनायी चीज़ नहीं है। यह दुनिया भर में बनने-बिगड़ने की प्रक्रिया में है, और हमेशा रहती है। उदारतावाद और प्रातिनिधिक व्यवस्था से भी उसका टकराव लगातार चलता रहता है। यह संघर्ष अक्सर वह धीमे-धीमे सुलगता है, मगर कभी-कभी ज्वालामुखी के लावे की तरह फट कर बाहर आ जाता है। इस

---

[25] इसी बात को माइकेल मैन 'जनतंत्र के अँधेरे पक्ष' के रूप में चिह्नित करते हैं. देखें, माइकल मैन (2005), द डार्क साइड ऑफ़ डेमॉक्रैसी : एक्सप्लेनिंग एथनिक क्लीनज़िंग, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, यूके.

[26] विल्हेल्म राइख़ ने अपनी मशहूर किताब *मास साइकोलॅजी ऑफ़ फ़ासिज़म* में फ़ासीवाद 'छोटे आदमी का विद्रोह' से जोड़ा है. देखें, विल्हेल्म राइख़ (1972), *मास साइकोलॅजी ऑफ़ फ़ासिज़म,* सैवेनियर प्रेस (ई ऍंड ए) लिमिटेड, लंदन.

[27] आम तौर पर हिंदुत्व के संदर्भ में इस तर्क के विस्तार के लिए देखें, आदित्य निगम (2006), वही.

नज़रिये से देखें तो हालिया जनांदोलनों को अपवाद समझना एक बहुत बड़ी भूल होगी। हमें यह समझना होगा कि स्वाभाविक समय में ऊपर से शांत लगने वाले जनतंत्रों में भी एक जद्दोजहद चलती रहती है। छोटे-मोटे विद्रोहों और नाफ़रमाँनियों के असर आहिस्ता-आहिस्ता जमा होते रहते हैं और लम्बे समय तक उनकी अवहेलना बड़ी बग़ावत का रास्ता खोल सकती है।

संदर्भ

अशोक सेन (1976), 'ब्युरोक्रेसी ऐंड सोशल हेजेमॅनी', *एसेज़ इन ऑनर ऑफ़ प्रो.फ़ेसर एस.सी. सरकार,* पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

आदित्य निगम (2008), 'इम्प्लोज़न ऑफ़ द पॉलिटिकल', *जर्नल ऑफ़ कंटेम्परेरी थॉट,* अंक 27, ग्रीष्म.

--------- (2011), *डिज़ायर नेम्ड डिवेलपमेंट,* पेंगुइन बुक्स, नयी दिल्ली.

--------- (2014), 'मोलेकुलर इकॉनॉमीज़ : इज़ देयर ऐन आउटसाइड टू कैपिटल', निवेदिता मेनन, आदित्य निगम और संजय पलशीकर (सम्पा.), *क्रिटिकल स्टडीज़ इन पॉलिटिक्स : एक्सप्लोरिंग साइट्स, सेल्व्ज़, पॉवर,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

एर्नेस्तो लक्लाऊ (1977), *पॉलिटिक्स ऐंड आइडियॉलॅजी इन मार्क्सिस्ट थियरी,* वरसो, लंदन.

---------- (2005), *ऑन पॉपुलिस्ट रीज़न,* वरसो, लंदन व न्यूयॉर्क.

कार्ल शिमट (1988), द *क्राइसिस ऑफ़ पार्लियामेंटरी डेमॉक्रैसी,* द एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स.

डेविड हेल्ड (1996), *मॉडल्स ऑफ़ डेमॉक्रैसी,* पॉलिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड, यूके.

पार्थ चटर्जी (1986), *नैशनलिस्ट थॉट इन द कोलोनियल वर्ल्ड : अ डेरिवेटिव डिस्कोर्स ?,* ज़ेड बुक्स व यूनाइटेड नेशंस युनिवर्सिटी, टोक्यो व लंदन.

पार्थ चटर्जी व आइरा कैत्ज़नेल्सन (2012), *एंक्ज़ाइटीज़ ऑफ़ डेमॉक्रैसी : टॉकवीलियन रिफ़्लेक्शंस ऑन इण्डियन ऐंड द यूनाइटेड स्टेट्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

पिएर रोसाँवेलो (2006), *डेमॉक्रैसी : पास्ट ऐंडड फ़्यूचर,* कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

----------(2008), *काउंटर-डेमोक्रसी : पॉलिटिक्स इन एन एज ऑफ़ डिस्ट्रस्ट,* केम्ब्रिज यूनवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, यूके.

माइकल मैन (2005), द डार्क साइड ऑफ़ डेमॉक्रैसी : एक्सप्लेनिंग एथनिक क्लीनज़िंग, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, यूके.

मिगुएल अबेंसुर (2011), *डेमॉक्रैसी अगेंस्ट द स्टेट : मार्क्स एंड द मैकियावेलियन मोमेंट,* पॉलिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड, यूके.

योगेंद्र यादव (1997), 'रीकनफ़िगरेशन इन इण्डियन पॉलिटिक्स : स्टेट एसेम्बली इलेक्शंस 1993-1995', ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

राजीव भार्गव (2005), 'सेकुलरवाद का उद्देश्य और उसूली फ़ासले का सिद्धांत', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *बीच बहस में सेकुलरवाद,* सी.एस.डी.एस.-वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

विलियम कोर्न्हौज़र (1959), द *पॉलिटिक्स ऑफ़ मास सोसाइटी,* द फ्री प्रेस ऑफ़ ग्लेनको, इलिनॉय.

विल्हेल्म राइख़ (1972), *मास साइकोलॅजी ऑफ़ फ़ासिज़म,* सैवेनियर प्रेस (ई ऐंड ए) लिमिटेड, लंदन.

शाहिद अमीन (1995), *इवेंट, मैटाफ़र, मेमॅरी : चौरी चौरा 1922-1992,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सुदीप्त कविराज (2010/1987), 'द पैसिव रेवोल्यूशन ऐंड इण्डिया : अ क्रिटीक', कविराज (2010), *ट्रेजेक्टरीज़ ऑफ़ द इण्डियन स्टेट : पॉलिटिक्स ऐंड आइडियाज,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

सुमित सरकार (2010), द *स्वदेशी मूवमेंट इन बेंगाल,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

सोनिया गुप्ता (1998), *जनसमूहों का विद्रोह,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.